क्रान्ति - बीज

भगवान् श्री रजनीश

सम्पादन :
स्वामी योग चिन्मय

जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन, बम्बई
१९७३

प्रकाशक
ईश्वरलाल एन० शाह,
(साधु ईश्वर समर्पण)
मंत्री, जीवन जागृति केंद्र,
३१, इजरायल मोहल्ला,
भगवान भुवन,
मस्जिद मदर रोड, बंबई–९

पाचवाँ संशोधित व परिवर्धित संस्करण
जनवरी, १९७३

मूल्य रू ६ ००

मुद्रक
मे० खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
७ वीं खेतवाडी, बम्बई–४
के लिये डी० एस० शर्मा

क्रांति-बीज

भगवान् श्री रजनीश द्वारा सौ० मदनकुंवर पारख, चाँदा, महाराष्ट्र को लिखे गये १२० अमृत पत्रों का संकलन.



अन्त:शीर्षक अनुक्रम

आमुख

मैं भी एक किसान हूँ।

और मैंने भी कुछ बीज बोये थे।

और फिर उनमें अंकुर आये और अब फूल लग गये हैं।

उन फूलों की सुगंध से मेरा सारा जीवन भर गया है।

उस सुगंध के कारण अब मैं किसी और ही लोक में हूँ।

उस सुगंध ने मुझे नया जन्म दिया है।

और अब जो मैं साधारण आँखों से दिखायी पड़ता हूँ, वही नहीं हूँ।

अदृश्य और अज्ञात ने अपने बन्द द्वार खोल दिये हैं।

और मैं उस जगत् को देख रहा हूँ, जो आँखों से नहीं देखा जाता।

और उस संगीत को सुन रहा हूँ, जिसे सुनने में कान समर्थ नहीं होते हैं।

और, इस भाँति जो मैंने जाना है और पाया है, वह वैसे ही मुझसे बहने और प्रवाहित होने को उत्सुक है, जैसे पहाड़ों के झरने सागर की ओर प्रवाहित होते और भागते हैं।

स्मरण रहे कि बदलियाँ जब पानी से भर जाती हैं, तो उन्हें बरसना पड़ता है।

और फूल जब सुवास से भर जाते हैं, तो उन्हें हवाओं को अपनी सुगंध लुटा देनी होती है।

और, जब कोई दिया जलता है, तो आलोक उससे बहता ही है।

ऐसा ही कुछ हुआ है।

और, कुछ क्रांति-बीज हवाएँ मुझसे लिये जा रही हैं।

मुझे कुछ ज्ञात नहीं कि वे किन खेतों में पहुँचेंगे, और कौन उन्हें सम्हालेगा। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि उनसे ही मुझे जीवन के, अमृत के, और प्रभु के फूल उपलब्ध हुए हैं।

और जिस खेत में भी वे पड़ेंगे, वहीं की मिट्टी अमृत के फूलों में परिणत हो जावेगी।

मृत्यु में अमृत छिपा है, और मृत्यु में जीवन।

वैसे ही जैसे मिट्टी में फूल छिपे होते हैं।

पर, मिट्टी की संभावना, फूलों के बीजों के अभाव में कभी वास्तविकता में परिणत नहीं, हो सकती।

बीज उसे प्रकट कर देते हैं, जो अप्रकट था, और उसे अभिव्यक्त कर देते हैं, जो कि प्रच्छन्न था।

जो भी मेरे पास है, जो भी मैं हूँ, उसे अमृत के, दिव्य के, भागवत चैतन्य के बीजों के रूप में बाँट देना चाहता हूँ।

ज्ञान से जो पाया जाता है, प्रेम उसे लुटा देता है।

ज्ञान से परमात्मा जाना जाता है।

प्रेम से परमात्मा हुआ जाता है।

ज्ञान साधना है।

प्रेम सिद्धि है।

भगवान् श्री रजनीश के इन शब्दो मे उनका पूरा हृदय प्रकट है।

यही वे रोज कहते है, यही वे रोज करते हैं।

उनके शब्दो मे, उनकी आँखो मे, उनकी साँसो मे—सब मे वे उन्ही बीजो को लुटा रहे हैं, जिनसे उनका जीवन एक अलौकिक आनन्द और सौन्दर्य बन गया है, और जिनके द्वारा वे चाहते हैं कि सबके जीवन मे भी आलोक के फूल लग सके।

उनका यह आलोक-सदेश सब तक पहुँच सके, इसलिए हम उनके कुछ पत्र यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

इन पत्रो के शीर्षक सम्पादक की कलम से सहज प्रकाश किरण की तरह स्फूर्त हुए है।

वैसे यह सही है कि भगवान् श्री के पत्रो को अथवा उनके प्रवचनो को शीर्षको मे सीमित करना सागर को गागर मे भरने की तरह असभव है।

लेकिन, इस आशा से उन्हे यहाँ सम्मिलित किया गया है ताकि वे सक्षिप्त मे, विषय-सूची का उद्देश्य पूरा कर सके।

तथा पाठक को पुस्तक पढने के पूर्व अन्तर्गत विषयो की परछाई और पदचाप की आहट दे सके।

साथ ही नये सस्करण मे पत्र-सामग्री को और अधिक छोटे-छोटे पैराग्राफ्स (हिस्सो) मे विभाजित कर दिया गया है। आशा है पाठक इसे पसद करेगे।

भगवान् श्री द्वारा अनेक प्रेमीजनो एव साधको को लिखे गये पत्रो के अन्य चार सकलन भी प्रकाशित हुए है। वे है—'पथ के प्रदीप,' 'प्रेम के फूल', 'अन्तर्वीणा' और 'ढाई आखर प्रेम का।'

अगले दो सकलन होगे, 'पद घुघरू बाँध' और 'घूघट के पट खोल।'



१ / त्याग

एक गाँव मे गया था। किसी ने कहा 'धर्म त्याग है। त्याग बडी कठिन और कठोर साधना है।'

मैं सुनता था तो एक स्मरण हो आया।

छोटा था—बहुत बचपन की बात होगी। कुछ लोगो के साथ नदी-तट पर वन-भोज को गया था। नदी तो छोटी थी, पर रेत बहुत थी। और रेत मे चमकीले रगो-भरे पत्थर बहुत थे। मैं तो जैसे खजाना पा गया था। साँझ तक इतने पत्थर बीन लिये थे कि उन्हे साथ लाना असम्भव था। चलते क्षण जब उन्हे छोडना पडा तो मेरी आँखे भीग गयी थी। और साथ के लोगो की उन पत्थरो की ओर विरक्ति देखकर बडा आश्चर्य हुआ था। उस दिन वे मुझे बडे त्यागी लगे थे।

और आज सोचता हूँ तो दीखता है कि पत्थरो को पत्थर जान लेने पर त्याग का कोई प्रश्न ही नही है।

अज्ञान भोग है।

ज्ञान त्याग है।

त्याग क्रिया नहीं है। वह करना नहीं होता है। वह हो जाता है। वह ज्ञान का सहज परिणाम है।

भोग भी यात्रिक है। वह भी कोई करता नही है। वह अज्ञान की सहज परिणति है।

फिर, त्याग के कठिन और कठोर होने की बात ही व्यर्थ है।

एक तो वह क्रिया ही नही है। क्रियाएँ ही कठिन और कठोर हो सकती है।

वह तो परिणाम है।

फिर उसमे जो छूटता मालूम होता है, वह निर्मूल्य और जो पाया जाता है, वह अमूल्य होता है।

वस्तुत त्याग जैसी कोई वस्तु ही नही है, क्योकि जो हम छोडते है, उससे बहुत को पा लेते है।

सच तो यह है कि हम केवल बधनो को छोडते है और पाते है मुक्ति।

छोडते है कौडियाँ और पाते है हीरे।

छोडते है मृत्यु और पाते है अमृत।

छोडते है अधेरा और पा लेते है प्रकाश—शाश्वत और अनन्त।

इसलिए, त्याग कहाँ है?

न-कुछ को छोडकर सब-कुछ को पा लेना त्याग नहीं है।

२/ मृत्यु और समाधि

कल रात्रि कोई महायात्रा पर निकल गया है। उसके द्वारा पर आज रुदन है।

ऐसे क्षणों में बचपन की एक स्मृति मन पर दुहर जाती है।

पहली बार मरघट जाना हुआ था। चिता जल गयी थी और लोग छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर बातें कर रहे थे। गाँव के एक कवि ने कहा था 'मैं मृत्यु से नही डरता हूँ। मृत्यु तो मित्र है।'

यह बात तब से अनेक रूपों में अनेक लोगो से सुनी है। जो ऐसा कहते हैं, उनकी आँखों में भी देखा है और पाया है कि भय से ही ऐसी अभय की बातें निकलती है।

मृत्यु को अच्छे नाम देने से ही कुछ परिवर्तन नही हो जाता है।

वस्तुत डर मृत्यु का नही है, डर अपरिचय का है।

जो अज्ञात है, वह भय पैदा करता है। मृत्यु से परिचित होना जरूरी है।

परिचय अभय में ले आता है।

क्यो ? क्योकि परिचय से ज्ञात होता है कि 'जो है' उसकी मृत्यु नही है।

जिस व्यक्तित्व को हमने अपना 'मै' जाना है, वही टूटता है, उसकी ही मृत्यु है।

वह है नहीं, इसलिए टूट जाता है।

यह केवल सायागिक है कुछ तत्त्वो का जोड है, जोड खुलते ही बिखर जाता है।

यही है मृत्यु।

और इसलिए व्यक्तित्व के साथ स्वरूप को एक जानना जब तक है, तब तक मृत्यु है।

व्यक्तित्व से गहरे उतरे, स्वरूप पर पहुँचे और अमृत उपलब्ध हो जाता है।

इस यात्रा का—**व्यक्तित्व से स्वरूप तक की यात्रा का—मार्ग धर्म है।**

समाधि मे, मृत्यु से परिचय हो जाता है।

सूरज उगते ही जैसे अंधेरा न हो जाता है, वैसे ही **समाधि उपलब्ध होते ही मृत्यु भी न हो जाती है।**

मृत्यु न तो शत्रु है, न मित्र है।

मृत्यु है ही नहीं।

न उससे भय करना है, न उससे अभय होना है।

केवल उसे जानना है।

उसका अज्ञान भय है, उसका ज्ञान अभय है।

३ / चित्त की समस्या और सत्य

एक दिन मैं मन्दिर गया था । पूजा हो रही थी। मूर्तियो के सामने सिर झुकाये जा रहे थे । एक वृद्ध साथ थे, बोले 'धर्म में लोगो को अब श्रद्धा नहीं रही। मदिर मे भी कम ही लोग दिखायी पडते हैं।'

मैंने कहा 'मदिर में धर्म कहाँ है ?'

मनुष्य भी कैसा आत्मवचक है अपने ही हाथो से बनायी मूर्तियो को भगवान् समझ स्वय को धोखा दे लेता है ! मन से रचित शास्त्रो को सत्य समझकर तृप्ति कर लेता है !

मनुष्य के हाथो और मनुष्य के मन से जो भी रचित है वह धर्म नही है।

मदिरो में बैठी मूर्तियाँ भगवान् की नही, मनुष्य की ही है।

और शास्त्रो मे लिखा हुआ मनुष्य की अभिलाषाओ और विचारणाओ का ही प्रतिफलन है, सत्य का अतर्दर्शन नही । सत्य को तो शब्द देना सभव नही है।

सत्य की कोई मूर्ति सभव नहीं है।

क्योंकि, वह असीम, अनत और अमूर्त है।

न उसका कोई रूप है, न धारणा, न नाम।

आकार देते ही वह अनुपस्थित हो जाता है।

उसे पाने के लिए सब मूर्तियाँ और सब मूर्त धारणाएँ छोड देनी पडती हैं।

स्व-निर्मित कल्पनाओ के सारे जाल तोड देने पडते हैं।

वह असृष्ट तब प्रकट होता है, जब मनुष्य की चेतना उसकी मनःसृष्ट कारा से मुक्त हो जाती है।

वस्तुत उसे पाने को मदिर बनाने नही, विसर्जित करने होते है। मूर्तियाँ गढनी नही, विलीन करनी होती है।

आकार के आग्रह खोने पडते है, ताकि निराकार का आगमन हो सके।

चित्त से मूर्त के हटते ही वह अमूर्त प्रकट हो जाता है।

वह तो था ही। केवल मूर्तियो और मूर्त में दब गया था।

जैसे किसी कक्ष मे सामान भर देने से रिक्त स्थान दब जाता है। सामान हटाओ और वह जहाँ था वही है।

ऐसा ही है सत्य।

मन को खाली करो और वह है।

४ / ईश्वर-भीरुता, प्रेम और धर्म

सुबह एक उपदेश सुना है। अनायास ही सुनने मे आया है। एक साधु बोलते थे। मैं उस राह से निकला तो सुन पडा। वे बोल रहे थे कि धार्मिक होने का मार्ग ईश्वर-भीरु होना है। जो ईश्वर से डरता है, वही धार्मिक है। भय ही उस पर प्रेम लाता है। 'भय बिनु होय न प्रीति।' प्रेम भय के अभाव मे असभव है।

साधारणत, जिन्हे धार्मिक कहा जाता है, वे शायद भय के कारण ही होते हैं। **जिन्हें नैतिक कहा जाता है, उनके आधार में भी भय ही होता है।**

कांट ने कहा है 'ईश्वर न हो तो भी उसका मानना आवश्यक है।' यह भी शायद इसीलिए कि उसका भय लोगो को शुभ बनाता है।

मैं इन बातो को सुनता हूँ तो हँसे बिना नही रहा जाता है। इतनी भ्रांत और असत्य शायद और कोई बात नही हो सकती है।

धर्म का भय से कोई सबध नही है।

धर्म तो अभय से उत्पन्न होता है।

प्रेम भी भय के साथ असभव है।

भय प्रेम कैसे पैदा कर सकता है? उससे तो केवल प्रेम का अभिनय ही पैदा हो सकता है।

और अभिनय के पीछे अप्रेम के अतिरिक्त और क्या होगा?

प्रेम का भय से पैदा होना एक असभावना है।

और, इसलिए वह धार्मिकता और नैतिकता जो भय पर आधारित होती है, सत्य नही, मिथ्या है।

वह आरोपण है, आत्मशक्ति का आरोहण नही।

धर्म या प्रेम आरोपित नही किया जाता है। उसे तो जगाना होता है।

सत्य भय पर नही खडा होता है। वह सत्य के लिए आधार नही, विरोध ही है। उसकी आधार-शिला तो अभय है।

धर्म और प्रेम के फूल अभय की भूमि मे ही लगते है। और, भय मे जो लगा लिये जाते हैं, वे फूल नही, कागज के धोखे हैं।

ईश्वरानुभूति अभय मे ही उपलब्ध होती है। या कि ठीक हो यदि कहे कि **अभय-चेतना ही ईश्वरानुभूति है।**

जिस क्षण समस्त भय-ग्रथियाँ चित्त से विसर्जित हो जाती है, उस क्षण जो होता है, वही सत्य-साक्षात् है।

५ / सम्यक् जागरण से विसर्जन—काम, क्रोध का

दोपहर तप गयी है। पलाश के वृक्षो पर फूल अगारो की तरह चमक रहे है।

एक सुनसान रास्ते से गुजरता हूँ। बाँसो का बना झुरमुट है और उनकी छाया भली लगती है।

कोई अपरिचित चिडिया गीत गाती है। उसके निमत्रण को मान वही रुक जाता हूँ।

एक व्यक्ति साथ है। पूछ रहे है 'क्रोध को कैसे जीतें, काम को कैसे जीते ?' यह बात तो अब रोज-रोज पूछी जाती है। इसके पूछने मे भी भूल है, यही उनसे कहता हूँ।

समस्या जीतने की है ही नहीं। समस्या मात्र जानने की है।

हम न क्रोध को जानते है और न काम को।

यह अज्ञान ही हमारी पराजय है।

जानना जीतना हो जाता है।

क्रोध होता है, काम होता है, तब हम नही होते है। होश नही होता है, इसलिए हम नही होते है।

इस मूर्च्छा मे जो होता है, वह बिलकुल यात्रिक है।

मूर्च्छा टूटते ही पछतावा आता है, पर वह व्यर्थ है, क्योकि जो पछता रहा है, वह काम के पकडते ही पुन सो जाने को है।

वह न सो पावे—अमूर्च्छा बनी रहे—जागृति—सम्यक्-स्मृति बनी रहे तो पाया जाता है कि न क्रोध है, न काम है।

यात्रिकता टूट जाती है और फिर किसी को जीतना नही पडता है। दुश्मन पाये ही नही जाते है।

एक प्रतीक कथा से समझे। अधेरे मे कोई रस्सी साँप दीखती है। कुछ उसे देखकर भागते है, कुछ लडने की तैयारी करते है। दोनो ही भूल मे है, क्योकि दोनो ही उसे स्वीकार कर लेते है। कोई निकट जाता है और पाता है कि साँप है ही नही। उसे कुछ करना नही होता, केवल निकट भर जाना होता है।

मनुष्य को अपने निकट भर जाना है।

मनुष्य मे जो भी है, सबसे उसे परिचित होना है।

किसी से लडना नही है और मै कहता हूँ कि बिना लडे ही विजय घर आ जाती है।

स्व-चित्त के प्रति सम्यक् जागरण ही जीवन-विजय का सूत्र है।

६ / साधना में बाधा—बहु छिद्रवान् मन

रात्रि बीत गयी है, और खेतो मे सुबह का सूरज फैल रहा है। एक छोटा-सा नाला अभी-अभी पार हुआ है। गाडी की आवाज सुन, चाँदनी के फूलो से सफेद बगुलो की एक पंक्ति सूरज की ओर उड गयी है।

फिर कुछ हुआ है और गाडी रुक गयी है। इस निर्जन मे उसका रुकना भला लगा है।

मेरे अपरिचित सहयात्री भी उठ आये हैं। रात्रि किसी स्टेशन पर उनका आना हुआ था। शायद मुझे सन्यासी समझ कर प्रणाम किया है। कुछ पूछने की उत्सुकता उनकी आँखो मे है। आखिर वे बोल रहे हैं 'अगर कोई बाधा आपको न हो तो मैं एक बात पूछना चहता हूँ। मैं प्रभु मे उत्सुक हूँ और उसे पाने का बहुत प्रयास किया है। पर कुछ परिणाम नही निकला। क्या प्रभु मुझ पर कृपालु नही है?—'

मैंने कहा 'कल मैं एक बगीचे मे गया था। कुछ साथी साथ थे। एक को प्यास लगी थी। उसने बाल्टी कुएँ मे डाली। कुआँ गहरा था। बाल्टी खीचने में श्रम पडा, पर बाल्टी जब लौटी तो खाली थी।' सब हँसने लगे।

मुझे लगा **यह बाल्टी तो मनुष्य के मन जैसी है।**

उसमे छेद ही छेद थे। बाल्टी नाम मात्र को थी, बस छेद ही छेद थे। पानी भरा था, पर सब बह गया।

ऐसा ही मन भी हमारा छेद ही छेद है।

इस छेद वाले मन को कितना ही प्रभु की ओर फेको, वह खाली ही वापस लौट आता है।

मित्र, पहले बाल्टी ठीक कर ले, फिर पानी खीच लेना एकदम आसान है।

हाँ, छेद वाली बाल्टी से तपश्चर्या तो खूब होगी, पर तृप्ति नही।

और स्मरण रहे कि **प्रभु न कृपालु है, न अकृपालु।**

बस आपकी बाल्टी भर ठीक होनी चाहिए।

कुआँ तो हमेशा पानी देने को राजी है। उसकी ओर से कभी कोई इनकार नही है।

७ / स्वप्नों से मुक्ति में उपलब्धि है सत्य की

एक दिन नदी के किनारे खडा था देखा , एक कागज की नाव पानी में डूब गयी है।

कल कुछ रेत के घरौंदे बच्चो ने बनाये थे, वे भी मिट गये हैं।

रोज नावे डूबती है और रोज घरौंदे टूट जाते है।

एक महिला आयी थी। सपने उनके पूरे नही हुए है। जीवन से मन उनका उचाट है। आत्महत्या के विचार ने उन्हें पकड लिया है। आँखें गड्ढो में धँस गयी है और सब व्यर्थ मालूम होता है।

मैंने कहा सपने किसके पूरे होते है ?

सब सपने अतत दुख देते हैं।

कागज की नावें कहाँ भी तो कितनी दूर बह सकती है ?

इसमे भूल सपने की नही है, वे तो स्वभाव से ही दुष्पूर है।

भूल हमारी है। जो सपना देखता है, वह सोया है।

जो सोया है, उसकी कोई उपलब्धि वास्तविक नही है।

जागते ही सब पाया, न पाया हो जाने को है।

सपने नहीं, सत्य देखें। जो है, उसे देखें। उसे देखने से मुक्ति आती है।

वही नाव सच्ची है—वही जीवन की परिपूर्णता तक ले जाती है।

स्वप्नो मे मृत्यु है। सत्य मे जीवन है।

स्वप्न यानी निद्रा। सत्य यानी जागृति।

जागे और अपने को पहचाने।

जब तक स्वप्न मे मन है, तब तक जो स्वप्न को देख रहा है, वह नही दीखता है।

वही सत्य है। वही है। उसे पाते ही डूबी नावो और गिरे घरौंदो पर केवल हँसी आती है।

८ / असीम सत्ता और 'मैं' की गांठ

एक सूफी गीत है।

प्रेयसी के द्वार किसी ने दस्तक दी। भीतर से आवाज आयी, 'कौन है ?' जो द्वार के बाहर खडा था, उसने कहा 'मैं हूँ।' प्रत्युत्तर मे उसे सुनाई पडा 'यह गृह 'मै' और 'तू' दो नही सभाल सकता है।'

और बन्द द्वार बन्द ही रहा। प्रेमी वन में चला गया। उसने तप किया, उपवास किये, प्रार्थनाएँ की। बहुत चादो के बाद वह लौटा और पुन उसने वे ही द्वार खटखटाये। दुबारा वही प्रश्न 'बाहर कौन है ?'

पर इस बार द्वार खुल गये, क्योंकि उसका उत्तर दूसरा था। उसने कहा: 'तू ही है।'

यह उत्तर कि 'तू ही है' समस्त धर्म का सार है।

जीवन के अनन्त-असीम प्रवाह पर 'मैं' की गाँठ ही बंधन है।

'मै' व्यक्ति को सत्ता से तोड देता है।

'मै' का बुदबुदा सत्ता-प्रवाह से अपने को भिन्न समझ बैठता है।

जब कि बुदबुदे की अपनी कोई सत्ता नही है। उसका कोई केंद्र और अपना जीवन नही है।

वह सागर ही है। सागर ही उसका जीवन है। सागर मे होकर उसका होना है।

सागर से पृथक् सत्ता का बोध ही अज्ञान है।

बुदबुदे के भीतर झाँको तो सागर मिल जाता है।

'मैं' के भीतर झाँको तो ब्रह्म मिल जाता है।

'मैं' जहाँ नहीं है, वहाँ वस्तुत 'तू' भी नहीं है।

वहाँ केवल 'होना' मात्र है। केवल अस्तित्व है, शुद्ध सत्ता है।

इस शुद्ध सत्ता में जागना निर्वाण है।

१ / आलोक है भीतर

एक मिट्टी का दिया जल रहा था, वह भी बुझ गया है। हवा का एक झोंका आया और उसे ले गया। मिट्टी के दियो का विश्वास भी क्या ? और, उन ज्योतियो का साथ भी कितना, जिन्हे हवाएँ बुझा सकती है ?

अधेरे के सागर मे डूब गये हैं। एक युवक बैठे है। अधेरे से उन्हे बहुत भय लग रहा है। वे कह रहे हैं कि अधेरे मे उनके प्राण काँप जाते हैं और सासे लेना भी मुश्किल हो जाता हैं।

मैं उनसे कह रहा हूँ कि जगत् मे तो अधेरा ही अधेरा है और ऐसी कोई भी ज्योति जगत् के पास नही है कि अधेरे को नष्ट कर दे।

जो भी ज्योतियाँ है, वे देर-अबेर स्वय ही अधेरे में डूब जाती है। वे आती हैं और चली जाती हैं, पर अधेरा वही का वही बना रहता है।

जगत् का अधकार तो शाश्वत है और उसकी ज्योतिया पर जो विश्वास करते हैं, वे नासमझ हैं, क्योंकि वे ज्योतियाँ वास्तविक नही हैं, और सब अतत अधेरे से पराजित हो जाती है।

पर, एक और लोक भी है।

जगत् से भिन्न एक और जगत् भी है।

जगत् अधकार है, तो वह लोक प्रकाश ही प्रकाश है।

जगत् मे प्रकाश क्षणिक और सामयिक है और अधकार शाश्वत है, तो उस लोक मे अधकार क्षणिक और सामयिक और आलोक शाश्वत है।

एक और भी आश्चर्य है कि अधकार का लोक हमसे दूर और प्रकाश का लोक बहुत निकट है।

अधकार बाहर है, आलोक भीतर है।

और स्मरण रहे कि **जब तक अतस् के आलोक मे जागरण नहीं होता है, तब तक कोई ज्योति अभय नहीं दे सकती।**

मिट्टी के—मृण्मय दियो पर विश्वास छोडो और **चिन्मय ज्योति को खोजो।**

इससे ही अभय और आनद और वह आलोक मिलता है, जिसे कि कोई छीन नही सकता।

और वही अपना है जो कि छीना न जा सके और वही अपना है जो कि बाहर नही है।

आँख के बाहर अंधकार है, पर आंख के भीतर तो देखो कि वहाँ क्या है?

यदि वहाँ भी अंधकार होता तो अंधकार का बोध नहीं हो सकता था। जो अंधकार को जानता है, वह अंधकार नहीं हो सकता है।

और जो आलोक की आकांक्षा करता है, वह कैसे अंधकार हो सकता है?

वह आलोक है, इसलिए उसे आलोक की आकांक्षा है। वह आलोक है, इसलिए उसे आलोक की अभीप्सा है।

आलोक ही केवल आलोक के लिए प्यासा हो सकता है।

जहाँ से प्यास आती है, वहीं खोजो—उसी बिन्दु को लक्ष्य बनाओ तो पाओगे कि जिसकी प्यास है, वह वहीं छिपा हुआ है।

१० / नकार और स्वीकार का अतिक्रमण

मैं ईश्वर-भीरु नही हूँ। भय ईश्वर तक नही ले जाता है। उसे पाने की भूमिका अभय है।

मैं किसी अर्थ मे श्रद्धालु भी नही हूँ। श्रद्धा मात्र अंधी होती है। और, अंधापन परम सत्य तक कैसे ले जा सकता है?

मैं किसी धर्म का अनुयायी भी नही हूँ। क्योकि, धर्म को विशेषणो मे बाँटना सभव नहीं है। वह एक और अविभक्त है।

कल जब मैंने यह कहा तो किसी ने पूछा 'फिर क्या आप नास्तिक हैं?"

मैं न नास्तिक हूँ, न आस्तिक ही हूँ। वे भेद सतही और बौद्धिक हैं। सत्ता से उनका कोई सबध नही है।

सत्ता 'है' और 'न है', मे विभक्त नही है। भेद मन का है।

इसलिए नास्तिकता आस्तिकता दोनो मानसिक हैं। आत्मिक को वे नही पहुँच पाती हैं।

आत्मिक विधेय और नकार दोनो का अतिक्रमण कर जाता है।

'जो है' वह विधेय और नकार के अतीत है।

या, फिर वहाँ दोनो एक हैं और उनमे कोई भेद-रेखा नही है।

बुद्धि से स्वीकार की गयी किसी भी धारणा की वहाँ कोई गति नही है।

वस्तुत आस्तिक को आस्तिकता छोडनी होती है और नास्तिक को नास्तिकता, तब कही वे सत्य मे प्रवेश कर पाते हैं।

वे दोनो ही बुद्धि के आग्रह हैं।

आग्रह आरोपण है।

सत्य कैसा है, यह निर्णय नही करना होता है, वरन् अपने को खोलते ही वह जैसा है, उसका दर्शन हो जाता है।

यह स्मरण रखें कि **सत्य का निर्णय नहीं, दर्शन करना होता है।**

जो सब बौद्धिक निर्णय छोड देता है, जो सब तार्किक धारणाएँ छोड देता है, जो समस्त मानसिक आग्रह और अनुमान छोड देता है, वह उस निर्दोष चित्त-स्थिति मे सत्य के प्रति अपने को खोल रहा है, जैसे फूल प्रकाश के प्रति अपने को खोलते हैं।

इसे खोलने में दर्शन की घटना सभव होती है।

इसलिए, जो न आस्तिक है न नास्तिक है, उसे मैं धार्मिक कहता हूँ। **धार्मिकता भेद से अभेद में छलाग है।**

विचार जहाँ नही, निर्विचार है, विकल्प जहाँ नही, निर्विकल्प है, शब्द जहाँ नही, शून्य है — वहाँ धर्म मे प्रवेश है।

११ / "स्व" या प्रभु की खोज—क्रियाविहीन, मार्गविहीन

रात्रि मे घूमने निकला था। गाँव का ऊबड-खाबड रास्ता था। साथ एक साधु थे। बहुत उन्होंने यात्रा की थी। शायद ही कोई तीर्थ था, जहाँ वे नही हो आये थे। प्रभु को पाने का वे मार्ग खोज रहे थे।

उस रात्रि उन्होंने मुझसे भी पूछा था 'प्रभु को पाने का मार्ग क्या है?'

यह प्रश्न उन्होंने औरो से भी पूछा था। मार्ग भी धीरे-धीरे उन्हे बहुत ज्ञात हो गये थे। पर प्रभु से जो दूरी थी, वह उतनी ही बनी थी। ऐसा भी नही था कि इन मार्गों पर वे चले नही थे। यथाशक्ति प्रयास भी किया था। पर हाथ आया था केवल चलना ही। पहुँचना नही हुआ था। पर अभी मार्गों से ऊबे नही थे और नये की तलाश जारी थी।

'जो स्वय हूँ, उसे पाने का कोई मार्ग नही है।'

मार्ग 'पर' को और दूर को पाने के होते है।

जो निकट है, निकट ही नही, जो मैं ही हूँ — वह मार्ग से नही मिलता है।

मार्ग के योग्य वहाँ अतराल ही नही है।

फिर, पाना उसे होता है जिसे खोया हो।

प्रभु को क्या खोया जा सकता है?

जो खोया जा सके, वह स्वरूप नही हो सकता है।

वह केवल विस्मृत है।

इसलिए, कही जाना नही है। केवल स्मरण करना है।

कुछ करना नही है। केवल जानना है।

और, जानना ही पहुँचना है।

जानना है कि यह मै कौन हूँ। और यह ज्ञान ही प्रभु की उपलब्धि है।

एक दिन जब सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते है, और कोई भी मार्ग कही ले जाता प्रतीत नही होता है, तब दीखता है कि जो भी मै कर सकता हूँ, वह सत्य तक नही ले जायेगा।

कोई क्रिया 'मै' के रहस्य को नहीं खोलेगी, क्योकि क्रियामात्र बाहर ले जाती है।

कोई क्रिया सत्ता तक नही लाती है।

जहाँ क्रिया का अभाव है, वहाँ सत्ता प्रकट होती है।

कोई क्रिया उसे नही देगी, क्योकि वह क्रियाओ के भी पूर्व है।

कोई मार्ग 'वहाँ' के लिए नहीं है, क्योकि वह तो 'यहाँ' है।

१२ / केवल शांति की सद्भावना से ही शांति की उपलब्धि

एक सध्या की बात है। गेलीली झील पर तूफान आया हुआ था। एक नौका डूबती-डूबती हो रही थी। बचाव का कोई उपाय नही दीखता था। यात्री और माझी घबडा गये थे। आंधियो के थपेडे प्राणो को हिला रहे थे। पानी की लहरे भीतर आना शुरू हो गयी थी। और किनारे पहुँच से बहुत दूर थे। पर इस गरजते तूफान मे भी नौका के एक कोने मे एक व्यक्ति सोया हुआ था—शान्त और निश्चिन्त। उसके साथियो ने उसे उठाया। सबकी आँखो मे आसन्न मृत्यु की छाया थी।

उस व्यक्ति ने उठकर पूछा 'इतने भयभीत क्यो हो ?' जैसे भय की कोई बात ही न थी। उसके साथी अवाक् रह गये। उनसे कुछ कहते भी तो नही बना। उसने पुन पूछा "क्या अपने आप पर बिलकुल भी आस्था नही है ?" इतना कह-कर वह शान्ति और धीरज से उठा और नाव के एक किनारे पर गया। तूफान आखिरी चोटे कर रहा था। उसने उस विक्षुब्ध हो गयी झील से जाकर कहा

"शान्ति, शान्त हो जाओ।" (Peace, be still)

तूफान जैसे कोई नटखट बच्चा था। ऐसे ही उसने कहा था "शात हो जाओ।"

यात्री समझे होगे कि यह क्या पागलपन है ? तूफान क्या किसी की मानेगा ? लेकिन उनकी आँखो के सामने ही तूफान सो गया था और झील ऐसी शात हो गयी कि जैसे कुछ हुआ ही नही।

उस व्यक्ति की बात मान ली गयी थी।

वह व्यक्ति था जीसस क्राइस्ट। और यह बात है दो हजार वर्ष पुरानी। पर मुझे यह घटना रोज ही घटती मालूम होती है।

क्या हम सभी निरतर एक तूफान—एक अशान्ति से नही घिरे हुए है ?

क्या हमारी आँखो मे भी निरतर आसन्न मृत्यु की छाया नही है।

क्या हमारे भीतर चित्त की झील विक्षुब्ध नही है।

क्या हमारी जीवन-नौका भी प्रतिक्षण डूबती-डूबती नही मालूम होती है ?

तब क्या यह उचित नही है कि हम अपने से पूछे—"इतने भयभीत क्यो हो ? क्या अपने आप पर बिल्कुल भी आस्था नही है ?"

और फिर अपने भीतर झील पर जाकर कहे "शान्ति, शान्त हो जाओ।"

मैने यह कहकर देखा है और पाया है कि तूफान सो जाता है।

केवल शान्त होने के भाव करने की ही बात है और शान्ति आ जाती है।

अपने भाव से प्रत्येक अशान्त है। अपने भाव से शान्त भी हो सकता है।

शान्ति उपलब्ध करना अभ्यास की बात नही है। केवल सद्भाव ही पर्याप्त है।

शान्ति तो हमारा स्वरूप है।
घनी अशान्ति के बीच भी एक केन्द्र पर हम शान्त हैं।
एक व्यक्ति यहाँ तूफान के बीच भी निश्चिन्त सोया हुआ है।
इस शान्त, निश्चल केन्द्र पर ही हमारा वास्तविक होना है।
उसके होते हुए भी हम अशान्त हो सके हैं, यही आश्चर्य है।
उसे वापस पा लेने मे तो कोई आश्चर्य नही है।
शान्त होना चाहते हो तो इसी क्षण अभी और यही शान्त हो सकते हो।
अभ्यास भविष्य मे फल लाता है, सद्भाव वर्तमान मे ही।
सद्भाव अकेला वास्तविक परिवर्तन है।

१३ / "मैं कौन हूँ ?" की उद्घाटन प्रक्रिया

"मैं कौन हूँ?" यह अपने आपसे पूछता था।

कितने दिवस-रात्रि यह पूछते बीते, अब उनकी कोई गणना भी तो संभव नही है।

बुद्धि उत्तर देती थी सुने हुए संस्कारजन्य। वे सब उत्तर, उधार और मृत थे।

उनसे तृप्ति नही होती थी। सतह पर कही गूजकर वे विलीन हो जाते थे। अंत-रात्मा उनसे अछूती रह जाती थी। गहराई मे उनकी कोई ध्वनि नहीं सुनायी पड़ती थी।

उत्तर बहुत थे, पर उत्तर नही था।

और मैं उनसे अस्पर्शित रह जाता था। प्रश्न जहाँ पर था, वहाँ उनकी पहुँच नही थी।

फिर यह दीखा। प्रश्न कही केन्द्र पर था उत्तर परिधि पर थे।

प्रश्न अपना था, उत्तर पराये थे। प्रश्न अतस् में जागा था, समाधान बाहर से आरोपित था।

और यह दीखना तो क्रान्ति बन गया।

एक नयी दिशा उद्घाटित हो गयी।

बुद्धि के समाधान व्यर्थ हो गये। समस्या से उनकी कोई संगति नही थी।

एक भ्रम भग्न हो गया था। और कितनी मुक्ति मालूम हुई थी।

जैसे बंद द्वार खुल गया हो या फिर अचानक अंधेरे मे प्रकाश हो गया हो, ऐसा मालूम हुआ था।

बुद्धि उत्तर देती थी, यही भूल थी।

उन तथाकथित उत्तरों के कारण वास्तविक उत्तर ऊपर नहीं आ पाता था।

कोई सत्य ऊपर आने को तडप रहा था।

चेतना की गहराइयो मे कोई बीज भूमि को तोडकर प्रकाश के दर्शन के लिए मार्ग खोज रहा था।

बुद्धि बाधा थी।

यह दीखा तो उत्तर गिरने लगा। बाहर से आया ज्ञान वाष्प होने लगा। प्रश्न और गहरा हो गया।

कुछ किया नही, केवल देखता रहा। देखता रहा।

कुछ अभिनव घटित हो रहा था। मैं तो अवाक् था। करने को था ही क्या, मैं जैसे बस दर्शक ही था।

परिधि की प्रतिक्रियाएँ झड रही थी, मिट रही थी, न हो रही थी। और केन्द्र अब पूरी तरह झंकृत हो उठा था।

'मैं कौन हूँ'— एक ही प्यास से समग्र व्यक्तित्व स्पदित हो उठा था।

कैसी आँधी थी वह कि साँस-साँस उसमे कपित हो गयी थी।

'कौन हूँ मैं ?'—एक तीर की भाँति प्रश्न सब कुछ चीरता भीतर चल रहा था।

स्मरण करता हूँ, कितनी तीव्र प्यास थी !

सारे प्राण ही तो प्यास मे बदल गये थे।

सब कुछ जल रहा था।

और एक अग्नि-शिखा की भाँति प्रश्न भीतर खडा था 'कौन हूँ मैं ?'

और आश्चर्य कि बुद्धि बिलकुल चुप थी। निरतर बहने वाले विचार नही थे।

यह क्या हुआ था कि परिधि नितात निस्पद थी ! कोई विचार नही था। कोई सस्कार नही था।

मैं था और प्रश्न था। नहीं, नही, मैं ही प्रश्न था।

और फिर विस्फोट हो गया। एक क्षण मे सब परिवर्तित हो गया।

प्रश्न गिर गया था।

किसी अज्ञात आयाम से समाधान आ गया था।

सत्य क्रम से नही, विस्फोट से उपलब्ध होता है।

उसे लाया नही जाता है। सत्य आता है।

शब्द नहीं, शून्य समाधान है। निरुत्तर हो जाने मे उत्तर है।

कल कोई पूछता था, और रोज कही कोई पूछता है 'वह उत्तर क्या है ?' मैं कहता हूँ 'उसे मैं कहूँ तो वह अर्थहीन है, उसका अर्थ उसे स्वय पाने मे है।'

१४ / द्रष्टा का जागरण

मैं उपदेशक नही हूँ। कोई उपदेश, कोई शिक्षा मैं नही देना चाहता। अपना कोई विचार तुम्हारे मन में डालने की मेरी कोई आकाक्षा नही है।

सब विचार व्यर्थ हैं और धूलिकणो की भाँति वे तुम्हे आच्छादित कर लेते है। और, फिर तुम जो नही हो, वैसे दिखायी पडने लगते हो।

और जो तुम नही जानते हो, वह ज्ञात-सा मालूम होने लगता है।

यह बहुत आत्मघातक है।

विचारो से अज्ञान मिटता नही, केवल छिप जाता है।

ज्ञान को जगाने के लिए अज्ञान को उसकी पूरी नग्नता मे जानना जरूरी है।

इससे विचारो के वस्त्रो मे अपने को मत ढाँको।

समस्त वस्त्रो और आवरणो को अलग कर दो, ताकि तुम अपनी नग्नता और रिक्तता मे परिचित हो सको।

वह परिचय ही तुम्हे अज्ञान के पार ले जानेवाला सेतु बनेगा।

अज्ञान के बोध का तीव्र सताप ही क्रांति का बिन्दु है।

इसमे मैं तुम्हे ढाँकना नही, उघाडना चाहता हूँ।

जरा देखो तुमने कितनी अधी श्रद्धाओ और धारणाओ और कल्पनाओं में अपने को छिपा लिया है।

और इन मिथ्या सुरक्षाओ मे तुम अपने को सुरक्षित समझ रहे हो।

यह सुरक्षा नही, आत्मवचना है।

मैं तुम्हारी इस निद्रा को तोडना चाहता हूँ।

स्वप्न नही, केवल सत्य ही एकमात्र सुरक्षा है।

और तुम यदि स्वप्नो को छोडने का साहस करो तो सत्य को पाने के अधिकारी हो जाते हो।

कितना सस्ता सौदा है।

सत्य को पाने को और कुछ नही, केवल स्वप्न ही छोडने पडते है।

विचारो की, स्वप्नो की, कल्पना-चित्रो की मूर्च्छा को तोडना है।

उससे, जो कि दीख रहा है, उस पर जागना है, जो कि देख रहा है।

'वह दृष्टा ही सत्य है, उसे पा लो तो समझो कि जीवन पा लिया।'

यह किसी से कह रहा था। वे सुनकर विचारमग्न हो गये। मैंने उनसे कहा 'आप तो सोच मे पड गये। उसी से तो मैं जागने को कह रहा हूँ। वही तो निद्रा है।'

१५ / योग अर्थात् द्रष्टा में प्रवेश

एक बैलगाडी निकलती है। उसके चाक देखता हूँ। धुरी पर चाक घूमते हैं। जो स्वय स्थिर है, उस पर चाकों का घूमना है।

गति के पीछे स्थिर बैठा हुआ है। क्रिया के पीछे अक्रिय है।

सत्ता के पीछे शून्य का वास है।

ऐसे ही एक दिन देखा धूल का एक बवडर। धूल का गुब्बारा चक्कर खाता हुआ ऊपर उठ रहा था, पर बीच मे एक केन्द्र था, जहाँ सब शात और स्थिर था।

क्या जगत् का मूल सत्य इन प्रतीको मे प्रकट नही है।

क्या समस्त सत्ता के पीछे शून्य नही बैठा हुआ है?

क्या समस्त क्रिया के पीछे अक्रिया नही है?

शून्य ही सत्ता का केन्द्र और प्राण है। उसे ही जानना है। उसमे ही होना है, क्योकि वही हमारा वास्तविक होना है।

जो प्रत्येक अपने केन्द्र पर है, वही प्रत्येक को होना है।

कहीं और नहीं, जो हम हैं, वहीं हमे चलना है।

यह होना कैसे हो?

उसे देखो जो 'देखता है' और शून्य में उतरना हो जाता है।

'दृश्य' से 'दृष्टा' की ओर चलना है।

दृश्य है रूप, क्रिया, सत्ता।

दृष्टा है अरूप, अक्रिया, शून्य।

'दृश्य' है पर, अनित्य, ससार-बधन, अमुक्ति, आवागमन।

'दृष्टा' है स्व, नित्य, ब्रह्म, मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण।

देखो, जो देखता है, उसे देखो।

यही समस्त योग है।

यही रोज कह रहा हूँ या जो भी कह रहा हूँ उसमे यही है।

१६ / सत्य के आयाम का उद्घाटन

ज्ञान के लिए पिपासा है। कितनी प्यास है प्रत्येक मे, उसे मै देखता हूँ।

कुछ भीतर प्रज्वलित है, जो शान्त होना चाहता है।

और मनुष्य कितनी दिशाओ मे खोजता है।

शायद अनन्त जन्मो से उसकी यह खोज चलती है।

किसी स्वर्णमृग को खोजता उसका चित्त भटकता ही रहता है। पर हर चरण पर निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नही आता है।

कोई रास्ता पहुँचता हुआ नही प्रतीत होता है।

गति होती है। पर गन्तव्य आता हुआ नही दीखता है।

क्या रास्ते कही भी नही ले जाते है?

इस प्रश्न का उत्तर नही देना है। **जीवन स्वय उत्तर है।**

क्या अनन्त मार्गों और दिशाओ मे चलकर उत्तर नही मिल गया है?

क्या सच ही उत्तर नही मिल गया है?

बौद्धिक उत्तर खोजने मे, उसके धुएँ मे, वास्तविक उत्तर खो जाता है।

बुद्धि चुप हो तो अनुभूति बोलती है।

विचार मौन हो तो विवेक जागृत होता है।

वस्तुत जीवन के आधारभूत प्रश्नो के उत्तर नही होते हैं।

समस्याएँ हल नही होती, गिर जाती हैं। केवल पूछने और शून्य हो जाने की बात है।

बुद्धि केवल पूछ सकती है। समाधान उससे नही, शून्य से आता है।

समाधान शून्य से आता है। इस सत्य को जानते ही एक नये आयाम पर जीवन का उद्घाटन प्रारंभ हो जाता है।

चित्त की इस स्थिति का नाम समाधि है।

पूछें और चुप हो जावे। बिलकुल चुप।

और समाधान को आने दें। उसे फलने दे।

और चित्त को इस निस्तरग स्थिति मे दर्शन होता है, उसका जो है—जो मैं हूँ।

स्वय को जाने बिना ज्ञान की प्यास नही बुझती है।

सब मार्ग छोडकर स्वय पर पहुँचना होता है।

चित्त जब किसी मार्ग पर नही है, तब स्वय मे है।

और स्वय को जानना ज्ञान है। शेष सब जानकारी है, क्योकि परोक्ष है।

विज्ञान ज्ञान नहीं है। वह सत्य को नहीं, केवल उपयोगिता को जानना है।

सत्य केवल अपरोक्ष ही जाना जा सकता है।

और ऐसी सत्ता केवल स्वयं की ही है, जो कि अपरोक्ष जानी जा सकती है।

चित्त जिस क्षण खोज की व्यर्थता को जानकर चुप और थिर रह जाता है, उसी क्षण अनन्त के द्वार खुल जाते हैं।

दिशा-शून्य चेतना प्रभु में विराजमान हो जाती है।

और ज्ञान की प्यास का अंत केवल प्रभु में ही है।

१७ / प्रभु की पुकार सुनें

अर्ध रात्रि बीत गयी है। एक सभा से लौटा हूँ। वहाँ कोई कह रहे थे 'प्रभु को पुकारो। उसका नाम स्मरण करो। निरंतर बुलाने से वह अवश्य सुनता है।'

मुझे याद आया, कबीर ने कहा है 'क्या ईश्वर बहरा हो गया है?'

शायद, कबीर के शब्द उन तक नही पहुँचे हैं।

फिर, उन्हे कहते सुना 'दस आदमी सो रहे हैं। किसी ने पुकारा 'देवदत्त।' तो देवदत्त उठ आता है। ऐसा ही प्रभु के संबंध मे भी है। उसका नाम पुकारो, वह अवश्य सुनता है।'

उनकी बाते सुन मुझे हँसी आने लगी थी।

प्रथम तो यह कि **प्रभु नहीं, हम सो रहे हैं।**

वह तो नित्य जाग्रत है। उसे नही, वरन् हमें जागना है।

फिर सोये हुए जाग्रत को जगावें, तो बड़े मजे की बात है।

उसे पुकारना नही, उसकी ही पुकार हमे सुननी है।

यह मौन मे होगा परिपूर्ण निस्तरंग चित्त मे होगा।

जब चित्त मे कोई ध्वनि नही है, तब उसका नाद उपलब्ध होता है।

पूर्ण मौन ही एकमात्र प्रार्थना है।

प्रार्थना कुछ करना नहीं है, वरन् जब चित्त कुछ भी नहीं कर रहा, तब वह प्रार्थना मे है।

प्रार्थना क्रिया नही, अवस्था है।

द्वितीय, प्रभु का कोई नाम नही है। न उसका कोई रूप है।

इसलिए उसे बुलाने और स्मरण करने का कोई उपाय भी नही है।

सब नाम, सब रूप कल्पित हैं। वे सब मिथ्या हैं। उनसे नहीं, उन्हे छोड़कर सत्य तक पहुँचना होता है।

जो सब छोड़ने का साहस करता है, वह उसे पाने की शर्त पूरी करता है।

१८ / अपने को मिटा देने का साहस चाहिये

मैंने सुना है

एक फकीर भीख माँगने निकला था। वह बूढ़ा हो गया था और आँख से उसे कम दीखता था। उसने एक मस्जिद के सामने आवाज लगायी थी। किसी ने उससे कहा 'आगे बढ। यह ऐसे आदमी का मकान नही है, जो तुझे कुछ दे सके।'

फकीर ने कहा 'आखिर इस मकान का मालिक कौन है, जो किसी को कुछ नही देता?' वह आदमी बोला 'पागल, तुझे यह भी पता नही कि यह मस्जिद है। इस घर का मालिक स्वय परमपिता परमात्मा है।'

फकीर ने सिर उठाकर मस्जिद पर एक नजर डाली और उसका हृदय एक जलती हुई प्यास से भर गया। कोई उसके भीतर बोला 'अफसोस है इस दरवाजे से आगे बढना। आखिरी दरवाजा आ गया इसके आगे और दरवाजा कहाँ है?'

उसके भीतर एक सकल्प घना हो गया। अडिग चट्टान की भाँति उसके हृदय ने कहा 'यहाँ से खाली हाथ नही लौटूगा। जो यहाँ से खाली हाथ लौट गये, उनके भरे हाथो का क्या मूल्य है?'

वह उन्ही सीढियो के पास रुक गया। उसने अपने खाली हाथो को आकाश की तरफ फैला दिया। वह प्यासा था—और प्यास ही प्रार्थना है।

दिन आये और गये। माह आये और गये। ग्रीष्म बीती, वर्षा बीती, सर्दियाँ भी बीत चली। एक वर्ष पूरा हो रहा था। उस बूढ़े के जीवन की मियाद भी पूरी हो गयी थी। पर अतिम क्षणो मे लोगो ने उसे नाचते देखा था।

उसकी आँखे एक अलौकिक दीप्ति से भर गयी थी। उसके वृद्ध शरीर से प्रकाश झर रहा था।

उसने मरने से पूर्व एक व्यक्ति से कहा था 'जो माँगता है, उसे मिल जाता है। केवल अपने को समर्पित करने का साहस चाहिए।'

अपने को समर्पित करने का साहस।

अपने को मिटा देने का साहस।

शून्य होने का साहस।

जो मिटने को राजी है, वह पूरा हो जाता है।

जो मरने को राजी है, वह जीवन को पा लेता है।

एक प्रभात गौतम बुद्ध [illegible] तोडते, [illegible] एक विहंग गीत गाने [illegible] उस प्रात उस निस्तब्ध [illegible] चुप हो [illegible] जाल बुनता रहा और वह पक्षी गीत गाता रहा।

बुद्ध चुप थे तो सभी चुप थे और उस मौन में, उस शून्य में वह गीत दिव्य हो गया था।

गीत पूरा हुआ तो शून्य और गहरा हो गया था। बुद्ध फिर उठ गये।

उस दिन वे कुछ भी नही बोले।

उस दिन बस वह मौन प्रवचन ही हुआ था।

और, इस मौन से उन्होने जो कहा, वह किसी शब्द से कभी नही कहा गया है।

इस जगत मे और इस जीवन मे जो भी है, सब दिव्य है, सब भागवत है। सब में विराट् की छाप और छाया है। वही सब में प्रच्छन्न है। वही सब में प्रकट है। उसका ही रूप है, उसकी ही ध्वनि है।

पर हम चुप नही है, इसलिए उसे नही सुन पाते है।

और हमारी आँख खुली नही है, इसलिए उसका दर्शन नही होता है।

हम अतिशय है, इसलिए 'वह' नही हो पाता है।

हम खाली हो, तो वह अभी और यहीं है।

सत्य है, पर स्व मूर्च्छा में है, जैसे प्रकाश हो, पर आँख बंद हो। और फिर स्व को तो नही जगाते है, सत्य की खोज करते है! आँख तो नहीं खोलते है, और प्रकाश का अनुसधान करते है!

इस भूल मे कभी मत पडना।

सब खोज छोडो और चुप हो जाओ।

चित्त को चुप कर लो और सुनो।

आँखें खुली कर लो और देखो।

जैसे पानी की मछली मुझसे पूछे कि उसे सागर खोजना है, तो उससे मैं क्या कहूँगा? मै उससे कहूँगा: खोज छोडो और देखो कि तुम सागर में ही हो।

प्रत्येक सागर मे है। सागर को पाना नहीं, मात्र पहचानना है।

२० / स्व-स्मृति का जागरण

एक मंदिर पड़ोस में है। रात्रि वहाँ रोज ही भजन-कीर्तन होते हैं। धूप की तीव्र गंध उसके बंद प्रकोष्ठ में भर जाती है। फिर आरती-वंदन होता है। वाद्य बजते हैं। घंटों का निनाद होता है। और ढोल भी बजते हैं। फिर, पुजारी नृत्य करता है। और क्रमश: भक्तगण भी नाचने लगते हैं।

यह देखने एक दिन मंदिर के भीतर गया था। जो देखा वह पूजा नहीं, मूर्च्छा थी। वह प्रार्थना के नाम पर आत्मविस्मरण था।

अपने को भूलना दु:ख-विस्मरण देता है। जो नशा करता है, वही काम धर्म के ऐसे रूप भी कर देते हैं।

जीवन-संताप को कौन नहीं भूलना चाहता है ?

मादक द्रव्य इसीलिए खोजे जाते हैं।

मादक क्रिया-कांड भी इसीलिए खोजे जाते हैं।

मनुष्य ने बहुत तरह की शराबें बनायी हैं। और, सबसे खतरनाक शराबें वे हैं, जो कि बोतलों में बंद नहीं होती हैं।

दुख-विस्मरण से दुख मिटता नहीं है।

उसके बीज ऐसे नष्ट नहीं होते, विपरीत उसकी जड़ें और मजबूत होती जाती हैं।

दुख को भूलना नहीं, मिटाना होता है।

उसे भूलना धर्म नहीं, वंचना है।

दुख-विस्मरण का उपाय जैसे स्व-विस्मरण है, वैसे ही दुख-विनाश का उपाय स्व-स्मरण है।

धर्म वह है, जो स्व को परिपूर्ण जाग्रत करता है। धर्म के शेष सब रूप मिथ्या हैं।

स्व-स्मृति पथ है, स्व-विस्मृति विपथ है।

और, यह भी स्मरण रहे कि स्व-विस्मृति से स्व मिटता नहीं है। वह उसकी प्रच्छन्न धारा प्रवाहित ही रहती है।

स्व-स्मृति से ही स्व विसर्जित होता है।

जो स्व को परिपूर्ण जानता है, वह स्व के विसर्जन को उपलब्ध हो, सर्व को पा लेता है।

स्व के विस्मरण से नहीं, स्व के विसर्जन से सर्व की राह है।

प्रभु के स्मरण से स्व को भुलाना भूल है।

स्व के बोध से स्व को मिटाना मार्ग है।

और, जब स्व नहीं रह जाता है, तब जो शेष रह जाता है, वही प्रभु है।

प्रभु स्व के विस्मरण से नहीं, विसर्जन से उपलब्ध होता है।

२१ / आत्म-ज्योति

साँझ से ही आंधी-पानी है। हवाओं के थपेड़ों ने बड़े वृक्षों को हिला डाला है। बिजली बंद हो गयी है और नगर में अंधेरा है।

घर में एक दीपक जलाया गया है।

उसकी लौ ऊपर की ओर उठ रही है। दिया भूमि का भाग है, पर लौ न मालूम किसे पाने निरंतर ऊपर की ओर भागती रहती है ?

इस लौ की भाँति ही मनुष्य की चेतना भी है।

शरीर भूमि पर तृप्त है, पर मनुष्य में शरीर के अतिरिक्त भी कुछ है जो निरंतर भूमि से ऊपर उठना चाहता है।

यह चेतना ही, यह अग्नि-शिखा ही मनुष्य का प्राण है।

यह निरंतर ऊपर उठने की उत्सुकता ही उसकी आत्मा है।

यह लौ है, इसलिए मनुष्य मनुष्य है, अन्यथा सब मिट्टी है।

यह लौ पूरी तरह जले तो जीवन में क्रांति घटित हो जाती है।

यह लौ पूरी तरह दिखायी देने लगे तो मिट्टी के बीच ही मिट्टी को पार कर लिया जाता है।

मनुष्य एक दिया है।

मिट्टी भी है उसमें, पर ज्योति भी है।

मिट्टी पर ही ध्यान रहा तो जीवन व्यर्थ हो जाता है।

ज्योति पर ध्यान जाना चाहिए।

ज्योति पर ध्यान जाते ही सब कुछ परिवर्तित हो जाता है।

क्योंकि तब मिट्टी में ही प्रभु के दर्शन हो जाते हैं।

अतिक्रमण बिन्दु — ठीक मध्य में जीना

[illegible] है। [illegible] रही है और सब [illegible] को [illegible]।

एक वृद्ध अध्यापक आये हैं। वर्षों से तपश्चर्या में लगे हैं। [illegible] हो गया है और आँखें धूमिल हो गयी हैं और चेहरे से [illegible] लगता है कि अपने को [illegible] है और उस आत्मपीड़न को ही साधना समझ [illegible]।

प्रभु के मार्ग पर चलने को जो उत्सुक होते हैं, उनमें अधिक का जीवन इसी भूल से विषाक्त हो जाता है।

[illegible] प्रभु को पाना संसार के विरोध का रूप ले लेता है और आत्मा की साधना शरीर को नष्ट करने का।

यह नकार-दृष्टि उन्हें नष्ट कर देती है और उन्हें ख्याल भी नहीं आ पाता है कि पदार्थ का विरोध परमात्मा के साक्षात का पर्यायवाची नहीं है।

सच तो यह है कि देह के उत्पीड़क देहवादी ही होते हैं

और संसार के विरोधी बहुत गहरे रूप में संसार से ही ग्रसित होते हैं।

संसार के प्रति भोग-दृष्टि जितना संसार से बाँधती है, विरोध-दृष्टि उससे कम नहीं, ज्यादा ही बाँधती है।

संसार और शरीर का विरोध नहीं, अतिक्रमण करना [illegible]

और वह दिशा न भोग की है और न दमन की है। वह दिशा दोनों से भिन्न है।

वह तीसरी दिशा है। वह दिशा संयम की है।

दो बिंदुओ के बीच मध्य बिंदु खोज लेना सयम है।

पूर्ण मध्य मे जो है, वह अतिक्रमण है।

वह कहने को ही मध्य में है, वस्तुतः वह दोनों के अतीत है।

भाग और दमन के जो पूर्ण मध्य मे है, वह कुछ भोग और कुछ दमन नही है।

वह न भोग है और न दमन है। वह समझौता नही, सयम है।

अति असयम है, मध्य सयम है।

अति विनाश है, मध्य जीवन है।

जो अति को पकडता है, वह नष्ट हो जाता है।

भोग और दमन दोनो जीवन को नष्ट कर देते है।

अति ही अज्ञान है, और अहकार है और मृत्यु है।

मैं सयम और सगीत को साधना कहता हूँ।

वीणा के तार जब न ढीले होते है, और न कसे ही होते है, तब सगीत पैदा होता है।

बहुत ढीले तार भी व्यर्थ हैं और बहुत कसे तार भी व्यर्थ हैं।

पर तारों की एक ऐसी भी स्थिति होती है जब वे न कसे कहे जा सकते हैं, न ढीले कहे जा सकते हैं।

वह बिंदु ही उनमें संगीत के जन्म का बिन्दु बनता है।

जीवन में भी वही बिन्दु संयम का है।

जो नियम संगीत का है, वही संयम का है।

संयम से सत्य मिलता है।

संयम की यह बात उनसे कही है और लगता है कि जैसे उसे उन्होंने सुना है। उनकी आँखें गवाही हैं। जैसे कोई सोकर उठा हो, ऐसा उनकी आँखों में भाव है। वे शान्त और स्वस्थ प्रतीत हो रहे हैं। कोई तनाव जैसे शिथिल हो गया है और कोई शांति उपलब्ध हुआ है।

मैंने जाते समय उनसे कहा है 'सब तनाव छोड़ दें और फिर देखें। भोग छोड़ा है, दमन भी छोड़ दें। छोड़कर—सब छोड़कर देखें—सहज होकर देखें—सहजता ही स्वस्थ करती है—स्वभाव में ले जाती है।

उन्होंने उत्तर में कहा : 'छोड़ने को अब क्या रहा? छूट ही गया। मैं शान्त और निर्भार होकर जा रहा हूँ। एक दुःख-स्वप्न जैसे टूट गया है। मैं बहुत अनुगृहीत हूँ।' और उनकी आँखें बहुत सरल और शांत हो गयी हैं और उनकी मुस्कराहट बहुत भली लग रही है। वे वृद्ध हैं, पर बिलकुल बालक लग रहे हैं।

काश, यह उन सभी को दीख सके जो प्रभु में उत्सुक होते हैं।

२३ / मन को देखना

सत्य को पाना है ? तो मन को छोड दो ।

मन के न होते ही सत्य आविष्कृत हो जाता है।

वैसे ही जैसे किसी ने द्वार खोल दिये हो, और सूर्य का प्रकाश भीतर आ गया हो।

सत्य के आगमन को मन दीवार की भाँति रोके हुए है।

मन की इस दीवार की ईंटें विचारो से बनी हैं।

विचार, विचार और विचार— विचारो की यह शृखला ही मन है ।

रमण ने किसी से कहा था 'विचारों को रोक दो और फिर मुझे बताओ कि मन कहाँ है ?"

विचार जहाँ नही है, वहाँ मन नही है। ईंटें न हो, तो दीवार कैसे होगी ?

एक साधु रात्रि आये थे। पूछते थे 'मन के साथ क्या करूँ ?

मैंने कहा कुछ भी न करो। मन को छोड दो और देखो। उसे बिलकुल छोड दो और बस देखते रहो।

जैसे कोई नदी के किनारे बैठकर जल-प्रवाह को देखता है। ऐसे ही विचार-प्रवाह को देखो—अलिप्त और असग।

देखते रहो और देखते रहो।

उस देखने के आघात से विचार शून्य हो जाते है और मन नहीं पाया जाता है।

और मन के हटते ही उसके रिक्त स्थान मे जिसका अनुभव होता है, वही आत्मा है। वही सत्य है, क्योकि वही सत्ता है।

२४ / मूर्ति-विसर्जन

एक सर्द और अँधेरी रात्रि में एक साधु किसी मदिर में ठहरा था। उसने सर्दी दूर करने को भगवान् की एक काष्ठ मूर्ति जला ली। आग जली देख पुजारी जाग गया। मूर्ति को जलते देख तो अवाक् रह गया। वह क्रोध में कुछ बोल भी नही सका — वह कृत्य ऐसा ही असोचनीय था।

और तभी उसने देखा साधु जली राख के ढेर में से कुछ खोज रहा है। उसने पूछा कि —'यह क्या कर रहे हो।' साधु ने कहा 'भगवान् की देह की अस्थियाँ खोजता हूँ ?

अब पुजारी के समक्ष उस साधु का पागलपन पूरी तरह स्पष्ट हो गया था। उसने साधु से कहा 'पागल, लकडी मे अस्थियाँ कहाँ रखी है ?' वह साधु बोला 'तब एक मूर्ति और लाने की कृपा करो, रात बहुत सर्द है और बहुत लम्बी भी है।'

मैं इस कथा को सोचता हूँ और लगता है कि वह पागल साधु मैं ही हूँ।

मैं चाहता हूँ कि हम मूर्तियो से मुक्त हो सके, ताकि जो अमूर्त है, उसके दर्शन सभव हो।

रूप पर जो रूका है, वह अरूप पर नहीं पहुँच पाता है।

और आकार जिसकी दृष्टि मे है, वह निराकार सागर मे कैसे कूदेगा ?'

और वह जो दूसरे की पूजा में है, वह अपने पर आ सके, यह कैसे सभव है ?

मूर्त को अग्नि दो, ताकि अमूर्त ही अनुभूति में शेष रहे।

और आकार की बदलियो को विसर्जित होने दो, ताकि निराकार आकाश उपलब्ध बने।

और रूप को बहने दो, ताकि नौका अरूप के सागर मे पहुचे।

जो सीमा के तट से अपनी नौका छोड देता है, वह अवश्य ही असीम को पहुँचता और असीम हो जाता है।

प्रार्थना और ध्यान : शुद्ध "है" की समग्रता

प्रार्थना क्या है ?

आत्म-विस्मरण ?

नहीं, प्रार्थना आत्म-विस्मरण नहीं है ।

वह, जिसमे भूलना, डूबना और खोना है, मादकता का ही एक रूप है ।

वह उपाय प्रार्थना नहीं, पलायन है ।

आत्म-विस्मरण तो संगीत से भी लाया जा सकता है ।

ध्वनि-सम्मोहन में, नृत्य मे 'जो है' उसका विस्मरण हो सकता है ।

यह विस्मरण और बेहोशी सुखद भी मालूम हो सकती है, पर यह प्रार्थना नहीं है ।

यह मूर्च्छा है, जब कि प्रार्थना सम्यक् चैतन्य में जागरण का नाम है ।

प्रार्थना क्या कोई क्रिया है ? क्या कुछ करना प्रार्थना है ?

नहीं, प्रार्थना क्रिया नहीं, वरन् चेतना की एक स्थिति है ।

प्रार्थना की नही जाती है, प्रार्थना मे हुआ जाता है ।

प्रार्थना मूलत अक्रिया है ।

जब सब क्रियाएँ शून्य हैं, और केवल साक्षी चैतन्य शेष रह गया है, ऐसी स्थिति का नाम प्रार्थना है ।

प्रार्थना शब्द से 'करने' की ध्वनि निकलती है ।

ध्यान शब्द मे भी 'करने' की ध्वनि निकलती है ।

पर वे दोनो शब्द क्रियाओ के लिए नही, चेतना स्थिति के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

शून्य में, मौन में, नि शब्द में होना प्रार्थना है, ध्यान है ।'

एक प्रार्थना-सभा में मैंने कल यह कहा है ।

किसी ने बाद मे पूछा "फिर हम क्या करे ?"

मैंने कहा थोडे समय को कुछ भी न करे । बिलकुल विश्राम मे अपने को छोड दे । शरीर व मन दोनो को चुप हो जाने दे ।

चुपचाप मन को देखते रहे, वह अपने से शात और शून्य हो जाता है ।

इसी शून्य मे, सत्य का सान्निध्य उपलब्ध होता है ।

इसी शून्य मे वह प्रकट होता है, जो भीतर है और वह भी जो बाहर है ।

फिर बाहर और भीतर मिट जाते हैं और केवल वही रह जाता है 'जो है' ।

इस शुद्ध 'है' की समग्रता का नाम ही ईश्वर है ।

२६ सर्वोत्तम पुरुषार्थ—शून्य हो जाना

संध्या बीती है। कुछ लोग आये हैं। वे कहते हैं कि मैं शून्य सिखाता हूँ। पर शून्य के तो विचार से ही भय लगता है। क्या कोई सहारा और आधार नहीं हो सकता है?

मैं उनसे कहता हूँ कि शून्य में कूदने में अवश्य साहस की जरूरत है।

पर जो कूद जाते हैं, वे शून्य को नहीं, पूर्ण को पाते हैं।

और जो कोई कल्पित सहारा और आधार पकड़े रहते हैं, वे शून्य में ही अटके रहते हैं।

कल्पनाओ के सहारे और आधार भी क्या कोई सहारे और आधार हैं?

सत्य का सहारा और आधार केवल शून्य से ही मिलता है।

शून्य होने का अर्थ कल्पनाओं के सहारों और आधारो से ही शून्य होना है।

एक कहानी उनसे कहता हूँ

'एक अमावस की अंधेरी रात्रि में, पर्वतीय निर्जन से गुजरते एक अजनबी यात्री ने पाया कि वह किसी खड्ड मे गिर गया है। उसके पैर चट्टानों से फिसल गये हैं, और वह एक झाड़ी को पकड़कर लटक गया है। चारों ओर अंधकार है। नीचे भी अंधकार और भयंकर खड्ड है। वहीं वह उस झाड़ी को पकड़े लटका रहा। और उसने इस संकट में संभाव्य मृत्यु की बहुत पीड़ा सही। सर्दी की रात्रि थी। फिर क्रमशः उसके हाथ ठंडे और जड हो गये। और अंतत उसके हाथो ने जवाब दे दिया। उसे उस भयंकर खड्ड में गिरना ही पड़ा। उसकी कोई चेष्टा सफल नहीं हो सकी। और उसने अपनी आँखो स्वयं को मृत्यु के मुंह में जाते देखा। वह गिरा, पर गिरा नहीं। वहाँ खड्ड था ही नहीं। गिरते ही उसने पाया कि वह जमीन पर खड़ा है।'

ऐसा ही मैंने भी पाया है। शून्य मे गिरकर पाया कि शून्य ही भूमि है।

चित्त के सब आधार जो छोड़ देता है, वह प्रभु का आधार पा जाता है।

शून्य होने का पुरुषार्थ ही एक मात्र पुरुषार्थ है।

और जो शून्य होने की शक्ति नहीं जुटा पाते हैं, वे शून्य ही बने रह जाते हैं।

२७ / अहं के मिटने पर ही संतृप्ति

सुबह घूमकर लौटआ था। नदी-तट पर एक छोटे-से झरने से मिलना हुआ। राह के सूखे पत्तों को हटाकर वह छोटा-सा झरना नदी की ओर दौड रहा था। उसकी दौड देखी और फिर नदी में उसका आनदपूर्ण मिलन भी देखा। फिर देखा कि नदी भी दौड रही है।

और, फिर देखा कि सब कुछ भाग रहा है। सागर से मिलने के लिये, असीम मे खोने के लिए, पूर्ण को पाने के लिए समस्त जीवन ही, राह के सूखे, मृत पत्तो को हटाता हुआ, भागा जा रहा है।

बूद सागर होना चाहती है।

यही सूत्र समस्त जीवन का ध्येय-सूत्र है।

उसके आधार पर ही सारी गति है और उसकी पूर्णता में ही आनद है।

सीमा दुख है, अपूर्णता दुख है।

जीवन सीमा के, अपूर्णता के समस्त अवरोध के पार उठना चाहता है।

उनके कारण उसे मृत्यु झेलनी पडती है।

उनके अभाव मे वह अमृत है।

उनके कारण वह खड है, उनके अभाव मे वह अखड हो जाता है।

पर, मनुष्य अह की बूद पर रुक जाता है और वही वह जीवन के अनत प्रवाह से खडित हो जाता है।

इस भाँति वह अपने ही हाथो सूरज को खोकर एक क्षीणकाय दीये की लौ मे तृप्त को खोजने का निरर्थक प्रयास करता है।

उसे तृप्ति नही मिल सकती है, क्योकि बूद बूद बनी रहकर कैसे तृप्त हो सकती है?

सागर हुए बिना कोई राह नही है।

सागर ही गन्तव्य है।

सागर होना ही होगा।

बूद को खोना जरूरी है।

अह को मिटाना जरूरी है।

अह ब्रह्म बने तभी सतृप्ति सभव है।

सागर होने की सतृप्ति ही सत्य मे प्रतिष्ठित करती है।

और वह सतृप्ति ही मुक्त करती है।

क्योकि, जो सतृप्त नही है, वह मुक्त कैसे हो सकता है?'

जीसस क्राइस्ट ने कहा है : 'जो जीवन को बचाता है, वह उसे खो देता है और जो उसे खो देता है, वह उसे पा जाता है।'

यही मुझे भी कहने दें। यही प्रेम है।

अपने को खो देना ही प्रेम है।

प्रेम की मृत्यु को अंगीकार करना ही, प्रभु के जीवन को पाने का उपाय है।

इसलिए, मैं कहता हूँ बूंदो ! सागर की ओर चलो। सागर ही गन्तव्य है। प्रेम की मृत्यु को वरण करो, क्योंकि वही जीवन है। जो सागर के पहले ठहर जाता है, वह मर जाता है; जो सागर में पहुँच जाता है, वह मृत्यु के पार पहुँच जाता है।

एक बार ऐसा हुआ कि किसी साधु का शिष्य मर गया था। वह साधु उस शिष्य के घर गया। उसके शिष्य की लाश रखी थी और लोग रोते थे। उस साधु ने जाकर जोर से पूछा 'यह मनुष्य मृत है या कि जीवित है ? Is the man dead or alive ?' इस प्रश्न से लोग बहुत चौंके और हैरान हुए। यह कैसा प्रश्न था ? लाश सामने थी और पूछने की बात ही क्या थी ?

थोडी देर सन्नाटा रहा और फिर किसी ने साधु से कहा 'आप ही बतावे ?'

और जानते है कि साधु ने क्या कहा ? साधु ने कहा 'जो मृत था, वह मृत है, जो जीवित था, वह अभी भी जीवित है। केवल दोनो का सबध टूट गया है।'

जीवन की कोई मृत्यु नही होती है और मृत का कोई जीवन नही होता है।

जीवन को जो नही जानते है, वे मृत्यु को जीवन का अत कहते है।

जन्म जीवन का प्रारभ नही है और मृत्यु उसका अत नही है।

जीवन जन्म और मृत्यु के भीतर भी है और बाहर भी है।

वह जन्म के पूर्व भी है और मृत्यु के पश्चात् भी है।

उसका ही जन्म है, उसकी ही मृत्यु है, पर न उसका कोई जन्म है, न उसकी कोई मृत्यु है।

एक शवयात्रा से लौटा हूँ। वहाँ चिता से लपटे उठी तो लोग बोले 'सब समाप्त हो गया।' मैने कहा आँखे नही है, इसलिए ऐसा लगता है।'

२९ / धर्म की जड़ें—योग में, साधना में

एक यात्रा से लौटा हूं। जहाँ गया था, वहाँ बहुत-से साधु-साध्वियों से मिलना हुआ। साधना तो बिलकुल नही है और साधु बहुत है। सब तरफ कागज ही, कागज के फूल दिखायी देते हैं।

साधना के अभाव में धर्म असंभव है।

फिर, धर्म के नाम से जो चलता है, उससे अधर्म का ही पोषण होता है।

धर्म ऊपर, अधर्म भीतर होता है।

और यह स्वाभाविक है ही।

जिन पौधों में जड़ें नहीं हैं, वे ऊपर से खोंसे हुए होंगे—किसी उत्सव में उनसे शोभा बन सकती है, पर उन पौधों में फूल और फल की प्रतीक्षा व्यर्थ है।

धर्म की जडे साधना में है, योग में है।

योग के अभाव में साधु का जीवन या तो मात्र अभिनय हो सकता है या फिर दमन हो सकता है।

दोनो ही बातें शुभ नही हैं।

सदाचरण का मिथ्या अभिनय पाखड है।

और, दमन भी घातक है। उसमे सघर्ष तो है, पर उपलब्धि कोई नही।

जिसे दबाया है, वह मरता नही, वरन् और गहरी पर्तों पर सरक जाता है।

एक ओर वासना की पीडाएँ हैं— उनकी ज्वालाओ मे उत्तप्त और ज्वरग्रस्त जीवन है — तृष्णा की दुष्पूर दौड-दुख है।

और दूसरी ओर दमन और आत्मउत्पीडन की अग्नि-शिखाएँ है।

एक ओर के कुएँ से जो बचता है, वह दूसरी ओर की खाई में गिर जाता है।

योग न भोग है, न दमन।

वह तो दोनों से जागरण है।

अतियो के द्वन्द्व में से किसी को भी नही पकडना है।

द्वन्द्व का कोई भी पक्ष द्वन्द्व के बाहर नही ले जा सकता है।

उनके बाहर जाना, उनमे से किसी को भी चुनकर नही हो सकता है।

जो उनमे से किसी को भी चुनता और पकडता है, वह उनके द्वारा ही चुन और पकड लिया जाता है।

योग किसी को पकडना नहीं है, वरन् समस्त पकड को छोड़ना है।

किसी के पक्ष में किसी को नही छोडना है। बस, बिना किसी पक्ष के निष्पक्ष ही सब पकड छोड देनी है।

पकड़ ही भूल है।

वही कुएँ में या खाई में गिरा देती है। वही अतियो मे और द्वन्द्वो मे और सघर्षों में ले जाती है।

जबकि मार्ग वहा है—जहाँ कोई अति नहीं है, जहाँ कोई दुई नही है, जहाँ कोई संघर्ष नही है।

चुनाव न करे, वरन् चुनाव करने वाली चेतना मे प्रतिष्ठित हो।

द्वन्द्व में न पड़ें, वरन् द्वन्द्व को देखने वाले ज्ञान मे स्थिर हो। उसमे प्रतिष्ठा ही प्रज्ञा है।

और वह प्रज्ञा ही प्रकाश मे जाने का द्वार है।

वह द्वार निकट है।

और जो अपनी चेतना की लौ को द्वन्द्वो की आँधियो से मुक्त कर लेते है, वे उस कुजी को पा लेते हैं, जिससे सत्य का वह द्वार खुलता है।

३० / जो खाली है, वह भर दिया जाता है

मैं मनुष्यो को इतना भरा हुआ देखता हूँ कि उन पर मुझे बहुत दया आती है। उनमे किंचित् भी अवकाश नही है, थोडा-सा भी आकाश नही है।

और, जिसमे आकाश नही है, वह मुक्त कैसे हो सकता है?

मुक्ति के लिए बाहर नहीं, भीतर आकाश चाहिए।

जिसमे भीतर आकाश होता है, वह बाहर के आकाश से एक हो जाता है।

और, अतस् का आकाश जब विश्व के आकाश से एक होता है—वह सम्मिलन वह संगम, वह संपरिवर्तन ही मुक्ति है।

वही ईश्वरानुभव है।

इसलिए, मैं किसी को अपने को ईश्वर से भरने को नही कहता हूँ—वरन् कहता हूँ कि सबसे अपने को खाली कर लो, और तुम पाओगे कि ईश्वर ने तुम्हे भर दिया है।

वर्षा मे जब बदलियाँ पानी गिराती हैं, तो टीले उस जल से वंचित ही रह जाते हैं, और गड्ढे परिपूरित हो जाते हैं।

गड्ढो की तरह बनो, टीलो की तरह नही।

अपने को भरो मत, खाली करो—और प्रभु की वर्षा तो प्रतिक्षण हो रही है—जो उस जल को अपने मे लेने को खाली है, वह भर दिया जाता है।

गागर का मूल्य यही है कि वह खाली है, वह जितनी खाली होती है, सागर उसे उतना ही भर देता है।

मनुष्य का मूल्य भी उतना ही है, जितना कि वह शून्य है, उस शून्यता मे ही सागर उतरता है और उसे पूर्ण करता है।

मन को साधना नहीं, विसर्जित करना है

मैं साधकों को देखता हूँ, तो पाता हूँ कि वे सब मन को साधने में लगे हैं।

मन को साधने से सत्य नहीं मिलता है, विपरीत वही सत्य के अनुभव में अवरोध है।

मन को साधना नहीं, विसर्जित करना है।

मन को छोड़ो, तब सत्य मिलता है।

सत्य किसी मन में या मन के द्वारा उपलब्ध नहीं होता।

वह अ-मन की स्थिति में उपलब्ध होता है।

मात्सु साधना में था। वह अपने गुरु-आश्रम के एक झोंपड़े में रहता और अहर्निश मन को साधने का अभ्यास करता। जो उससे मिलने भी आते, उनकी ओर भी वह कभी कोई ध्यान नहीं देता था।

उसका गुरु एक दिन उसके झोंपड़े पर गया। मात्सु ने उसकी ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया। पर उसका गुरु दिन भर वहीं बैठा रहा और एक ईंट को पत्थर पर घिसता रहा। मात्सु से अंतत न रहा गया और उसने पूछा— 'आप यह क्या कर रहे हैं?' गुरु ने कहा: 'इस ईंट का दर्पण बनाना है।' मात्सु ने कहा: 'ईंट का दर्पण? पागल हुए हैं—जीवन भर भी घिसने से नहीं बनेगा।' यह सुन गुरु हँसने लगा और उसने मात्सु से पूछा: 'तब तुम क्या कर रहे हो? ईंट दर्पण नहीं बनेगी, तो क्या मन दर्पण बन सकता है? ईंट भी दर्पण नहीं बनेगी, मन भी दर्पण नहीं बनेगा। मन ही तो धूल है, जिसने दर्पण को ढाँका है। उसे छोड़ो और अलग करो, तब सत्य उपलब्ध होता है।'

विचारों का संग्रह मन है और विचार बाहर से आये धूलिकण हैं। उन्हें अलग करना है।

उनके हटने पर जो शेष रह जाता है, वह निर्दोष चैतन्य सदा से ही निर्दोष है।

निर्विचार, इस अ-मन की स्थिति में, उस सनातन सत्य के दर्शन होते हैं, जो कि विचारों के धुएँ में छिप गया होता है।

विचारों का धुआँ न हो तो फिर चेतना की निर्धूम ज्योतिशिखा ही शेष रह जाती है।

वही पाना है, वही होना है।

साधना का साध्य वही है।

१५ / अपरिवर्तनशील सत्ता के प्रति जागना

सुबह थी, फिर दोपहर आयी, अब सूरज डूबने को है। एक सुन्दर सूर्यास्त पश्चिम पर फैल रहा है।

मैं रोज दिन को ऊगते देखता हूँ, दिन को छाते देखता हूँ, दिन को डूबते देखता हूँ। और फिर यह देखता हूँ कि न तो मैं ऊगा, न मैंने दोपहर पायी और न ही मैं अस्त पाता हूँ।

कल यात्रा से लौटा तो यही देख रहा था। सब यात्राओं में ऐसा ही अनुभव होता है। राह बदलती है, पर राही नहीं बदलता है।

यात्रा तो परिवर्तन है, पर यात्री अपरिवर्तित मालूम होता है।

कल कहाँ था, आज कहाँ हूँ कभी क्या था, अब क्या है—पर जो मैं कल था, वही आज भी हूँ, जो मैं कभी था, वही अब भी हूँ।

शरीर वही नहीं है, मन वही नहीं है, पर मैं वही हूँ।

दिक् और काल में परिवर्तन है, पर 'मैं' में परिवर्तन नहीं है।

सब प्रवाह है, पर यह "मैं" प्रवाह का अंग नहीं है। वह उनमें होकर भी उनसे बाहर और उनके अतीत है।

यह नित्य-यात्री—यह चिर-नूतन, चिर-परिचित यात्री ही आत्मा है।

परिवर्तन के जगत् में इस अपरिवर्तित के प्रति जाग जाना ही मुक्ति है।

३३ / दृश्य से दृष्टा की ओर यात्रा

मैं तुम्हे देखता हूँ तुम्हारे पार जो है, उसे भी देखता हूँ।

शरीर पर जो रुक जावे, वे आँखें देखती ही नही है। शरीर कितना पारदर्शी है।

सच ही, देह कितनी ही ठोस क्यो न हो, उसे नो नही ही छिपा पाती है, जो कि पीछे है।

पर, आँखे ही न हो तो बात दूसरी है, फिर तो सूरज भी नही है।

सब खेल आँखो का है।

विचार और तर्क से कोई प्रकाश को नही जानता है।

वास्तविक आँख की पूर्ति किसी अन्य साधन से नही हो सकती है। आँख चाहिए।

आत्मिक को देखने के लिए भी आँख चाहिए, एक अतर्दृष्टि चाहिए।

वह है तो सब है। अन्यथा, न प्रकाश है, न प्रभु है।

और जो दूसरे की देह के पार की सत्ता को देखना चाहे, उसे पहले अपनी पार्थिव सत्ता के अतीत झाँकना होता है।

जहाँ तक मैं अपने गहरे मे देखता हूँ, वही तक अन्य देहे भी पारदर्शी हो जाती हैं।

जितनी दूर तक मैं अपनी जड़ता में चैतन्य का आविष्कार कर लेता हूँ, उतनी ही दूर तक समस्त जड़ जगत् मेरे लिए चैतन्य से भर जाता है।

जो मैं हूँ, जगत् भी वही है।

जिस दिन मैं समग्रता मे अपने चैतन्य को जान लूँ, उसी दिन जगत् नहीं रह जाता है।

स्व-अज्ञान ससार है, आत्मज्ञान मोक्ष है।

इससे रोज कह रहा हूँ, इससे प्रत्येक से कह रहा हूँ एक बार देखो कि कौन तुम्हारे भीतर बैठा हुआ है?

इस हड्डी-माँस की देह मे कौन आच्छादित है? कौन है आबद्ध तुम्हारे इस बाह्य रूप मे?

इस क्षुद्र मे कौन विराट् विराजमान है?

कौन है यह चैतन्य? क्या है यह चैतन्य?

यह पूछे बिना, यह जाने बिना जीवन सार्थक नही है।

मैं सब-कुछ जान लू स्वय को छोडकर, तो उस ज्ञान का कोई मूल्य नही है।

जिस शक्ति से 'पर' जाना जाता है, वह शक्ति 'स्वय' को भी जानने में समर्थ है।

जो अन्य को जान सकती है, वह स्वय को कैसे नही जानेगी?

केवल दिशा-परिवर्तन की बात है।

जो दीख रहा है, उससे उस पर चलना है, जो कि देख रहा है।

दृश्य से द्रष्टा पर ध्यान-परिवर्तन आत्मज्ञान की कुंजी है।

विचार-प्रवाह में से उस पर जाओ, जो उनका भी साक्षी है।

और, एक क्रांति घटित हो जाती है।

कोई अवरुद्ध झरना जैसे फूट पड़ा हो, ऐसे ही चैतन्य की धारा जीवन से समस्त जड़ता को बहा ले जाती है।

३४ / धर्म की जमीन, आत्मा की जड़ें और मनुष्य का फूल

कल सन्ध्या तक एक पौधे मे प्राण थे। उसकी जड़े जमीन मे थी और पत्तो में जीवन था। उसमें हरियाली थी, चमक थी। हवा में वह डोलता था तो उससे आनन्द झरता था। उसके पास से मैं अनेक बार गुजरा था और उसके जीवन-सगीत को अनुभव किया था।

फिर कल यह हुआ कि किसी ने उसे खीच दिया, उसकी जडे हिल गयी और आज जब मैं उसके पास गया तो पाया कि उसकी साँसें टूट गयी हैं। जमीन से जड हट जाने पर ऐसा ही होता है। सारा खेल जडो का है। वे दीखती नही, पर जीवन का सारा रहस्य उन्ही मे है।

पौधो की जडे होती हैं। मनुष्य की भी जडे होती है।

पौधो की जमीन है, मनुष्य की भी जमीन है।

पौधे जमीन से जडे हटाते ही सूख जाते है। मनुष्य भी सूख जाता है।

आल्बेयर कामू की एक पुस्तक पढता था। उसकी पहली पक्ति है कि आत्म-हत्या एकमात्र महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्या है।

क्यो? क्योकि अब मनुष्य को जीवन म कोई प्रयोजन नही मालूम होता है। सब व्यर्थ और सब निष्प्रयोजन हो गया है।

हुआ यह है कि हमारी जडे हिल गयी है, हुआ यह है कि उस मूल जीवन-स्त्रोत से हमारे सबध टूट गये है, जिसके अभाव मे जीवन एक व्यर्थ की कहानी मात्र रह जाता है।

मनुष्य को पुन. जडें देनी है और मनुष्य को पुन जमीन देनी है।

वे जडें आत्मा की है और वह जमीन धर्म की है।

उतना हो सके तो मनुष्यता में फिर से फूल आ सकते है।

सारा संसार कागजी महल है

एक परिवार मे आमंत्रित था। संध्या गये ही वहां से लौटा हूं। एक मीठी घटना वहां घटी। बहुत बच्चे उस घर में थे। उन्होंने ताश के पत्तों का एक महल बनाया था और मुझे दिखाने ले गये। सुन्दर था। मैंने प्रशंसा की। गृहिणी बोली: "ताश के पत्तो के महल की भी प्रशंसा? जरा-सा हवा का झोंका सब मिट्टी कर देता है।"

मैं हँसने लगा, तो बच्चों ने पूछा: 'क्यों हँसते हैं?' यह बात ही होती थी कि महल भरभरा कर गिर गया। बच्चे उदास हो गये। गृहिणी बोली: 'देखा।' मैंने कहा: 'देखा, पर मैंने और महल भी देखे हैं, और सब महल ऐसे ही गिर जाते हैं।'

पत्थर के ठोस महल भी पत्तो के ही महल है। बच्चो के ही नही, बूढो के महल भी पत्तो के महल ही होते हैं। हम सब महल बनाते हैं—कल्पना और स्वप्नो के महल और फिर हवा का एक झोंका सब मिट्टी कर जाता है।

इस अर्थ मे हम सब बच्चे हैं। प्रौढ होना कभी-कभी होता है। अन्यथा अधिक लोग बच्चे ही मर जाते हैं।

सब महल ताश के महल हैं, यह जानने से व्यक्ति प्रौढ हो जाता है।

फिर भी वह उन्हे बनाने मे संलग्न हो सकता है, पर तब सब अभिनय होता है। यह जानना कि जगत् अभिनय है, जगत् से मुक्त हो जाना है।

इस स्थिति मे जो पाया जाता है, वही फिर किसी झोंके से नष्ट नही होता है।

३६ / अनावश्यक आप ही आप विसर्जित

कल रात्रि पानी पडा है। मौसम गीला है और अभी-अभी फिर धीमी फुहार आनी शुरू हुई है। हवाएँ नम हो गयी हैं और वृक्षो से गिरते पत्तो को द्वार तक ला रही हैं। लगता है पतझड हो रही है और वसत के आगमन की तैयारी है। रास्ते पत्तो से ढँक रहे हैं और उन पर चलने मे सूखे पत्ते मधुर आवाज करते हैं।

मैं उन पत्तो को देर तक देखता रहा हूँ।

जो पक जाता है, वह गिर जाता है।

पत्तो पर पत्ते सुबह से शाम तक गिर रहे हैं। पर वृक्षो को उनके गिरने से कोई पीडा नही हो रही है।

इससे जीवन का एक अद्‌भुत नियम समझ मे आता है।

कुछ भी कच्चा तोडने में कष्ट है। पकने पर टूटना अपने से हो जाता है।

एक सन्यासी आये हैं। त्याग उन्हे आनन्द नही बन पाया है। वह कष्ट है और कठिनाई है। सन्यास अपने से नही आया, लाया गया है। मोह के, अज्ञान के, परिग्रह के, अहकार के पत्ते अभी कच्चे थे। जबरदस्ती की है—पत्ते तो टूट गये, पर पीडा पीछे छोड गये हैं। वह पीडा शाति नही आने देती है।

सोचता हूँ कि आज शाम जाकर पके पत्तो के टूटने का रहस्य उन्हे बताऊँ।

सन्यास पहले नही है। ज्ञान है प्रथम।

उसकी आँख मे ससार पके पत्तो की भाँति गिर जाता है।

सन्यास लाया नही जाता, पाया जाता है।

ज्ञान की क्रांति के बाद त्याग कष्ट नहीं, आनंद हो जाता है।

१७ / ज्ञान का भ्रम

ज्ञान और ज्ञान में भेद है।

एक ज्ञान है केवल जानना, जानकारी, बौद्धिक समझ।

और एक ज्ञान है अनुभूति, प्रज्ञा, जीवन्त प्रतीति।

एक मृत तथ्यो का सग्रह है, एक जीवित सत्य का बोध है।

दोनो में बहुत अतर है—भूमि और आकाश का, अधकार और प्रकाश का।

वस्तुत बौद्धिक ज्ञान कोई ज्ञान ही नही है। वह ज्ञान का भ्रम है।

क्या अधे व्यक्ति को प्रकाश का कोई ज्ञान हो सकता है?

बौद्धिक ज्ञान वैसा ही ज्ञान है।

ऐसे ज्ञान का भ्रम अज्ञान को ढाँक लेता है। वह आवरण मात्र है। उसके शब्द-जाल और विचारो के धुएँ मे अज्ञान विस्मृत हो जाता है।

यह अज्ञान से भी घातक है।

क्योकि, अज्ञान दीखता हो तो उससे ऊपर उठने की आकाक्षा तो पैदा होती है।

पर वह न दीखे तो उससे मुक्त होना सभव ही नही रह जाता है।

तथाकथित ज्ञानी अज्ञान मे ही नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञान—सत्य-ज्ञान बाहर से नही आता है।

और जो बाहर से आये, जानना कि वह ज्ञान नही है, मात्र जानकारी ही है।

ऐसे ज्ञान के भ्रम मे गिरने से सावधानी रखनी आवश्यक है।

जो भी बाहर से आता है, वह स्वय पर और पर्दा बन जाता है।

ज्ञान भीतर से जागता है। वह आता नहीं, जागता है। और उसके लिए पर्दे बनाने नही, तोडने होते हैं।

ज्ञान को सीखना नही होता है। उसे उघाडना होता है।

सीखा हुआ ज्ञान जानकारी है, उघाडा हुआ ज्ञान अनुभूति है।

और, जिस ज्ञान को सीखा जावे, उसके अनुसार जीवन को जबरदस्ती ढालना पड़ता है, फिर भी वह कभी सपूर्णतया उसके अनुकूल नही हो पाता है और उस ज्ञान और जीवन मे एक अतर्द्वन्द्व बना ही रहता है।

पर जो ज्ञान उघाडा जाता है, उसके आगमन से ही आचरण सहज उसके अनुकूल हो जाता है।

सत्य-ज्ञान के विपरीत जीवन का होना एक असभावना है। वैसा आज तक धरा पर कभी नही हुआ है।

एक कथा है। एक घने वन के बीहड़ पथ पर दो मुनि थे। शरीर की दृष्टि से वे पिता पुत्र थे। पुत्र आगे था, पिता पीछे। मार्ग था एकदम निर्जन और भयानक। और फिर अचानक सिंह का गर्जन हुआ। पिता ने पुत्र से कहा 'तुम पीछे आ जाओ, खतरा है।' पुत्र हँसने लगा और आगे चलता था—आगे चलता रहा। पिता ने दोबारा कहा। सिंह सामने आ गया था। मृत्यु द्वार पर खड़ी थी। पुत्र बोला, 'मैं शरीर नहीं हूँ, तो खतरा कहाँ है? आप भी तो यही कहते हैं न?' पिता ने भागते हुए चिल्लाकर कहा 'पागल, सिंह की राह छोड़ दे।' पर पुत्र हँसता ही रहा और बढ़ता ही रहा। सिंह का हमला भी हो गया। वह गिर पड़ा था, पर उसे दीख रहा था कि जो गिरा है, वह 'मैं' नहीं हूँ। शरीर वह नहीं था, इसलिए उसकी कोई मृत्यु भी नहीं थी। जो पिता कहता था, वह उसे दीख भी रहा था। और वह अंतर महान है।

पिता दुखी था और दूर खड़े उसकी आँखों में आँसू थे। और पुत्र स्वयं मात्र द्रष्टा ही रह गया था। वह जीवन में द्रष्टा था, तो मृत्यु में भी द्रष्टा था। उसे न दुख था, न पीड़ा। वह अविचल और निर्विकार था, क्योंकि जो भी हो रहा था, वह उसके बाहर हो रहा था। वह स्वयं कहीं भी उसमें सम्मिलित नहीं था।

इससे कहता हूँ कि ज्ञान और ज्ञान में भेद है।

समाधि अर्थात् निर्विषय चेतना

[illegible]

किसी ने कहा है : बूंद का सागर में मिल जाना।

किसी ने कहा है : सागर का बूंद में उतर आना।

मैं कहता हूँ : बूंद और सागर का मिट जाना।

जहां न बूंद है, न सागर है, वहां समाधि है।

जहां न एक है, न अनेक है, वहां समाधि है।

जहां न सीमा है, न असीम है, वहां समाधि है।

[illegible]

समाधि सत्य है। समाधि चैतन्य है। समाधि शान्ति है।

'मैं' समाधि मे नही होता हूं, वरन् जब 'मैं' नहीं होता हूं, तब जो है, वह समाधि है।

और, अद्भुत, यह 'मैं' जो कि 'मैं' नही है, वास्तविक 'मैं' है।

'मैं' की दो सत्ताएं हैं : अहम् और ब्रह्म।

अहम् वह है, जो मैं नही हूं, पर जो 'मैं' जैसा भासता है।

ब्रह्म वह है, जो मैं हूं, लेकिन जो 'मैं' जैसा प्रतीत नही होता है।

चेतना—शुद्ध चैतन्य—ब्रह्म है।

मैं शुद्ध, साक्षी, चैतन्य हूं, पर विचार-प्रवाह से तादात्म्य के कारण वह दिखायी नही पड़ता है।

विचार स्वय चेतना नही है। विचार को जो जानता है, वह चैतन्य है।

विचार का भी जो दृष्टा है, वह चैतन्य है।

विचार विषय है, चेतना विषयी है।

विषय से विषयी का तादात्म्य मूर्च्छा है।

यही असमाधि है। यही प्रसुप्त अवस्था है।

विचार-विषय के अभाव मे जो शेष है, वही चेतना है। इस शेष मे ही होना समाधि है।

विचार-शून्यता मे जागरण सत्ता के द्वार खोल देता है—सत्ता अर्थात् वही 'जो है'।

उसमें जागो—यही समस्त जाग्रत पुरुषो की वाणी का सार है।

३९ / अनंत को पाने की शर्त—अनंत धैर्य

मैं माली को बीज बोते देखता हूँ। फिर, वह खाद देता है। पानी देता है। और फूलो के आने की प्रतीक्षा करता है। फूल खीचकर जबर्दस्ती पौधो से नही निकाले जाते हैं। उनकी तो धीरज से प्रतीक्षा करनी होती है।

प्रेम और प्रतीक्षा।

ऐसे ही प्रभु के बीज भी बोने होते है।

और, ऐसे ही दिव्य जीवन के फूलो के खिलने की भी राह देखनी होती है।

प्रार्थना और प्रतीक्षा।

जो इसके विपरीत चलता है और अधैर्य प्रकट करता है, वह कही भी नही पहुँच पाता है।

अधैर्य उस विकास के लिए अच्छा खाद नही है।

शाति से, धैर्य से और प्रीति से प्रतीक्षा करने पर किसी सुबह अनायास ही फूल खिल जाते है, और उनकी गध जीवन के आगन को सुवासित कर देती है।

अनत के फूलो के लिए अनत प्रतीक्षा अपेक्षित है।

पर यह स्मरण रहे कि जो उतनी प्रतीक्षा के लिए तत्पर होता है, उसकी प्राप्ति का समय तत्क्षण आ जाता है।

अनत धैर्य ही अनत को पाने की एकमात्र शर्त है।

उस शर्त के पूरे होते ही वह उपलब्ध हो जाता है।

उसे कही बाहर से थोडे ही आना है। वह तो भीतर का ही विकास है।

वह तो मौजूद ही है।

पर अधैर्य और अशाति के कारण हम उसे नहीं देख पाते हैं।

४० / साक्षी होना : मन की निर्मलता का सूत्र

मनुष्य का मन अद्भुत है।

वही है रहस्य ससार का और मोक्ष का।

पाप और पुण्य, बधन और मुक्ति, स्वर्ग और नर्क सब उसमें ही समाये हुए हैं।

अँधेरा और प्रकाश सब उसी का है।

उसमें ही जन्म है, उसमें ही मृत्यु है।

वही है द्वार बाह्य जगत् का, वही है सीढ़ी अतर की।

और उसका ही न हो जाना दोनों के पार हो जाना हो जाता है।

मन सब-कुछ है।

सब उसकी ही लीला और कल्पना है।

वह खो जाये, तो सब लीला विलीन हो जाती है।

कल कही यह कहा था। कोई पूछने आया 'मन तो बडा चचल है, वह खोये कैसे ? मन तो बडा गदा है, वह निर्मल कैसे हो ?'

मैंने फिर एक कहानी कही।

बुद्ध जब वृद्ध हो गये थे, तब एक दोपहर एक वन मे एक वृक्ष तले विश्राम को रुके थे। उन्हें प्यास लगी तो आनन्द पास के पहाडी झरने पर पानी लेने गया था। पर झरने मे से अभी-अभी गाडियाँ निकली थी और उसका सब पानी गदा हो गया था। कीचड-ही-कीचड और सडे पत्ते उसमे उभरकर आ गये थे। आनन्द उसका पानी बिना लिये ही वापस लौट आया। उसने बुद्ध से कहा 'नाले का पानी निर्मल नही है, मैं पीछे लौटकर नदी से पानी ले आता हूँ।' नदी बहुत दूर थी। बुद्ध ने उसे झरने का पानी ही लाने को वापस लौटा दिया। आनन्द थोडी देर मे फिर खाली लौट आया। वह पानी उसे लाने जैसा नही लगा। पर बुद्ध उसे हर बार वापस लौटा देते। और तीसरी बार जब आनद झरने पर पहुँचा तो देखकर चकित हो गया। झरना अब तक बिलकुल निर्मल और शात हो गया था, कीचड बैठ गयी थी और जल बिलकुल निर्मल हो गया था।

यह कहानी मुझे बडी प्रीतिकर है।

यही स्थिति मन की भी है। जीवन की गाडियाँ उसे विक्षुब्ध कर जाती हैं।

पर कोई यदि शान्ति और धीरज से उसे बैठा देखता रहे, तो कीचड अपने से नीचे बैठ जाती है और सहज निर्मलता का आगमन हो जाता है।

मन की निर्मलता मे जीवन नया हो जाता है।

केवल [illegible] और 'बिना कुछ किये' मन की कीचड़ बैठ सकती है।

केवल साक्षी होना है और मन निर्मल हो जाता है।

मन को निर्मल करना नहीं होता है। करने से ही कठिनाई बन जाती है।

उसे तो केवल किनारे से बैठकर देखें—और फिर देखें कि क्या होता है?

जीवन की बाँसुरी का संगीत

रात्रि के इस सन्नाटे में कोई बाँसुरी बजा रहा है। कितनी मधुर-सी लगती है! एकान्त रात्रि और दूर से आते बाँसुरी के स्वर... मधुर। विश्वास न हो, इतना सुन्दर है यह सब।

बाँस की पोंगरी कितना अमृत बरसा सकती है!

जीवन भी बाँसुरी की भाँति है। अपने में खाली और शून्य, पर साथ ही संगीत की अपरिसीम सामर्थ्य भी उसमें है।

पर सब कुछ बजाने वाले पर निर्भर है।

जीवन वैसा ही हो जाता है, जैसा व्यक्ति उसे बनाता है। वह अपना ही निर्माण है।

यह तो एक अवसर मात्र है—कैसा गीत कोई गाना चाहता है, यह पूरी तरह उसके हाथो मे है।

मनुष्य की महिमा यही है कि वह स्वर्ग और नरक दोनों के गीत गाने को स्वतंत्र है।

प्रत्येक व्यक्ति दिव्य स्वर अपनी बाँसुरी से उठा सकता है। बस थोड़ी-सी उँगलियाँ भर साधने की बात है।

थोड़ी-सी साधना और विराट् उपलब्धि है।

न-कुछ करने से ही अनन्त आनन्द का साम्राज्य मिल जाता है।

मैं चाहता हूँ कि एक-एक हृदय मे कह दूँ कि अपनी बाँसुरी को उठा लो। समय भागा जा रहा है देखना कही गीत गाने का अवसर बीत न जाये। इसके पहले कि पर्दा गिरे, तुम्हें अपना जीवन-गीत गा लेना है।

४२ / ज्ञान प्रारंभ है, शील परिणाम है

जीवन-साधना में बीज क्या है और फल क्या है, यह जानना अत्यंत अनिवार्य है। प्रारम्भ और परिणाम को पहचानना जरूरी है। कार्य और कारण को न जाने हुए जो चलता है, वह भूल करता है।

केवल चलना ही पर्याप्त नही है। **अकेले चलने से ही कोई नहीं पहुँचता है। दिशा और साधना-विधि का सम्यक् होना जरूरी है।**

साधना में केन्द्रीय भी कुछ है, परिधिगत भी है। केन्द्र पर प्रयास हो तो परिधि अपने से सँभल जाती है। उसे पृथक् सँभालने का कारण नही है। वह केन्द्र की ही अभिव्यक्ति है, वह फैला हुआ केन्द्र है। इससे परिधि पर प्रयास व्यर्थ होते हैं। एक कहावत है 'झाडी के आसपास पीटना।' परिधि पर उलझना ऐसा ही है।

क्या है केन्द्र ? क्या है परिधि ?

ज्ञान केन्द्र है, शील परिधि है।

ज्ञान प्रारम्भ है, शील परिणाम है।

ज्ञान बीज है, शील फल है।

पर साधारणत लोगो का चलना विपरीत है।

शील से चलकर वे ज्ञान पर पहुँचना चाहते हैं। शील को वे ज्ञान मे परिणत करना चाहते हैं।

पर शील अज्ञान मे पैदा नही किया जा सकता। शील पैदा ही नही किया जा सकता। पैदा किया हुआ शील, शील नही है। वह मिथ्या आवरण है, जिसके तले कुशील दब जाता है।

चेष्टित शील वंचना है।

अँधेरे को दबाना-छिपाना नही है। उसे मिटाना है।

कुशील पर शील के कागजी फूल नही चिपकाने हैं। उसे मिटाना है।

जब वह नही है, तब जो आता है, वह शील है।

अज्ञान मे जबर्दस्ती लाया गया शील घातक है, क्योंकि उसमे जो नही है, वह ज्ञात होता है कि है। और इस भाँति जिसे लाना है, उसका आँख से ओझल हो जाना हो जाता है।

अज्ञान मे सीधे शील लाने का कोई उपाय भी नही है, क्योंकि अज्ञान की अभिव्यक्ति ही कुशील है।

कुशीलता अज्ञान ही है।

किसी बुद्ध ने कहा है : 'अण्णाणी किं काही ।'—जो अज्ञान में है, वह क्या कर सकता है ?

शील नहीं, ज्ञान लाना है। ज्ञान ही शील बन जाता है।

ज्ञान सर्व को प्रकाशित करता है।

उसके उदय से ही अज्ञान और मोह का नाश होता है।

उससे ही राग और द्वेष का क्षय होता है।

उससे ही मुक्त दशा उपलब्ध होती है।

सब आनंद—द्रष्टा के प्रकट होते ही

सुबह एक पत्र मिला है। किसी ने उसमें पूछा है कि 'जीवन दुःख में घिरा है, फिर भी आप आनन्द की बात कैसे करते हैं ? जो है, उसे देखें तो आनन्द की बात कल्पना प्रतीत होती है।'

निश्चय ही जीवन दुःख मे घिरा है, चारों ओर दुःख है, पर जो घिरा है वह दुःख नही है।

जब तक जो घेरे है, उन्हे देखते रहेंगे, दुःख ही मालूम होगा, पर जिस क्षण उसे देखने लगेंगे, जो कि घिरा है, तो उसी क्षण दुःख असत्य हो जाता है और आनन्द सत्य हो जाता है।

कुल बात दृष्टि-परिवर्तन की है।

जो दृष्टि द्रष्टा को प्रकट कर देती है, वही दृष्टि है। शेष सब अंधापन है।

द्रष्टा के प्रकट होते ही सब आनन्द हो जाता है, क्योंकि आनन्द उसका स्वरूप है।

जगत् फिर भी रहता है, पर दूसरा हो जाता है।

आत्म-अज्ञान के कारण उसमे जो कांटे मालूम हुए थे, वे अब कांटे नही मालूम होते है।

दुःख की सत्ता वास्तविक नही है, क्योंकि परवर्ती अनुभव से वह खंडित हो जाती है।

जागने पर जैसे स्वप्न अवास्तविक हो जाता है, वैसे ही स्व-बोध पर दुःख हो जाता है।

आनन्द सत्य है, क्योंकि वह स्व है।

४४ / निर्विचार में मनुष्य का दिव्यता में अतिक्रमण

कल एक जगह बोला हूँ।

कहा मैं तुम्हें असतुष्ट करना चाहता हूँ। **एक दिव्य प्यास, एक अलौकिक अतृप्ति सब में पैदा हो, यही मेरी कामना है।**

मनुष्य जो है, उसमें तृप्त रह जाना मृत्यु है।

मनुष्य विकास का अत नही है। वह भी एक सीढी है। एक विकास-सोपान है।

जो उसमे प्रकट है, वह अप्रकट की तुलना मे कुछ भी नही है।

जो वह है, वह उसकी तुलना मे जो कि वह हो सकता है, कुछ न होने के बराबर ही है।

धर्म, तृप्ति की इस मृत्यु से, प्रत्येक को अतृप्ति के जीवन में जगाना चाहता है।

क्योकि उस अतृप्ति से ही उस बिन्दु तक पहुँचना हो सकता है, जहाँ कि वास्तविक सतृप्ति है।

मनुष्य को मनुष्यता का अतिक्रमण करना है।

यह अतिक्रमण ही उसे दिव्यता मे प्रवेश देता है।

यह अतिक्रमण कैसे होगा ?

एक परिभाषा को समझे तो अतिक्रमण की प्रक्रिया भी समझ मे आ जाती है।

पशुता—विचार-प्रक्रिया के पूर्व की स्थिति।

मनुष्यता—विचार-प्रक्रिया की स्थिति।

दिव्यता—विचार-प्रक्रिया के अतीत की स्थिति।

विचार-प्रक्रिया के घेरे के पार चले तो चेतना दिव्यता मे पहुँच जाती है।

विचार को पार करना मनुष्यता का अतिक्रमण कर जाना है।

मैं प्रकृति मे ही परमात्मा को देखता हूँ।

प्रतिक्षण, प्रतिघडी, उसका मुझे अनुभव हो रहा है। एक स्वास भी ऐसी नही आती-जाती है, जब उससे मिलन न हो जाता हो।

जहाँ भी आँख पडती है, देखता हूँ कि वह उपस्थित है।

और जहाँ भी कान सुनते हैं, पाता हूँ कि उसका ही सगीत बज रहा है।

वह तो सब जगह है, केवल उसे देखना भर आने की बात है।

वह तो है, पर उसे पकड पाने के लिए आँख चाहिए।

आँख के आते ही वह सब दिशाओ मे और सब समयो मे उपस्थित हो जाता है।

रात्रि मे जब आकाश तारो से भर जाये, तो उन तारो को सोचो मत, देखो।

और, सागर के वक्ष पर जब लहरे नाचती हो, तो उन लहरो को सोचो मत, देखो।

और कली जब फूल बनती हो, तो देखो और केवल देखो।

विचार न हो और मात्र दर्शन हो, तो एक बडा राज खुल जाता है, और प्रकृति के द्वार से उस रहस्य में प्रवेश होता है, जो कि परमात्मा है।

प्रकृति परमात्मा के आवरण से ज्यादा कुछ भी नही है, और जो उसके घूँघट को उठाना जानते हैं, वे ही केवल जीवन के सत्य से परिचित हो जाते हैं।

सत्य का एक युवा खोजी किसी सद्गुरु के पास गया था। उसने जाकर पूछा 'मैं सत्य को जानना चाहता हूँ, मैं धर्म को जानना चाहता हूँ। कृपा करे और मुझे बतायें कि मैं कहाँ से प्रारभ करूँ, कहाँ से प्रवेश करूँ?' सद्गुरु ने कहा 'क्या पास ही पर्वत से गिरते जलप्रपात की ध्वनि तुम्हे नही सुनायी पड रही है?' उस युवक ने कहा 'मैं उसे भली भाँति सुन रहा हूँ।' सद्गुरु बोले 'तब वही से प्रारभ करो—वही से प्रवेश करो—(Then enter from there) वही द्वार है।'

सच ही प्रवेश-द्वार इतना ही निकट है—पहाड से गिरते झरनो मे, हवाओ में डोल रहे वृक्षो के पत्तो मे, सागर पर नाच रही सूरज की किरणों में।

पर हर प्रवेश-द्वार पर्दा है, और बिना उठाये वह नही उठता है।

और, वस्तुत वह पर्दा प्रवेश-द्वारो पर नही है, वह हमारी दृष्टि पर ही है।

और, इस भाँति एक ही पर्दे ने अनत द्वारो पर पर्दा कर दिया है।

४६ / ईश्वर हमारा स्वभाव है

चाँद ऊपर उठ रहा है। दरख्तो को पार करता उसका मद्धिम प्रकाश रास्ते पर पड़ने लगा है। और आम्र-फूलो की भीनी गध से हवाएँ सुवासित हो रही हैं।

मै एक विचार-गोष्ठी से लौटा हूँ। जो थे वहाँ, अधिकतर युवक थे। आधुनिकता से प्रभावित और उत्तेजित। अनास्था ही जैसे उनकी आस्था है, निषेध स्वीकार है। उनमें से एक ने कहा 'मै ईश्वर को नही मानता हूँ, मैं स्वतत्र हूँ।' इस एक पक्ति में तो युग की मन स्थिति ही प्रतिबिम्बित है। सारा युग इस स्वतत्रता की छाया में है, बिना यह जाने कि यह स्वतत्रता आत्महत्या है।

क्यो है यह आत्महत्या ? क्योकि **अपने को अस्वीकार किये बिना ईश्वर को अस्वीकार करना असभव है।**

एक कहानी मैंने उनसे कही 'ईश्वर के भवन पर फैली एक अगूर-बेल थी। वह फैलते-फैलते, बढते-बढते, आज्ञा मानते-मानते थक गयी थी। उसका मन परतत्रता से ऊब गया था और फिर एक दिन उसने भी स्वतत्र होना चाहा था। वह जोर से चिल्लायी थी कि सारा आकाश सुन ले 'मै अब बढूँगी नही।'

'मै अब बढूँगी नही।'

'मै अब बढूँगी नही।'

यह विद्रोह निश्चय ही मौलिक था, क्योकि स्वभाव के प्रति ही था।

ईश्वर ने बाहर झाँककर कहा 'न बढो, बढने की आवश्यकता ही क्या है ?' बेल खुश हुई, विद्रोह सफल हुआ था। वह न बढने के श्रम मे लग गयी। पर बढना न रुका, न रुका। वह न-बढ़ने मे लगी रही और बढती गयी, बढती गयी—और ईश्वर यह सब पूर्व से ही जानता था।

यही स्थिति है।

ईश्वर हमारा स्वभाव है।

वह हमारा आतरिक नियम है।

उससे दूर नही जाया जा सकता है।

वह हुए बिना कोई मार्ग नही है।

कितना ही अस्वीकार करे, कितना ही स्वतत्र होना चाहें उससे, पर उससे मुक्ति नही है, क्योकि वह हमारा स्व है।

वस्तुत., वह ही है और हम कल्पित है।

इससे कहता हूँ, उससे नही, उसमें ही मुक्ति है।

४७ / एकाकीपन से भय क्यों ?

एक राजा ने किसी सामान्यत स्वस्थ और सतुलित व्यक्ति को कैद कर लिया था—**एकाकीपन का मनुष्य पर क्या प्रभाव होता है,** इस अध्ययन के लिए। वह व्यक्ति कुछ समय तक चीखता-चिल्लाता रहा। बाहर जाने के लिए रोता था, सिर पटकता था—उसकी सारी सत्ता जो बाहर थी। सारा जीवन तो 'पर' से, अन्य से बँधा था। अपने में तो वह कुछ भी नही था। अकेला होना, न होने के ही बराबर था।

और सच ही वह धीरे-धीरे टूटने लगा। उसके भीतर कुछ विलीन होने लगा, चुप्पी आ गयी। रुदन भी चला गया। आँसू भी सूख गये। और आँखे ऐसे देखने लगी जैसे पत्थर की हो। वह देखता हुआ भी लगता कि जैसे नही देख रहा है।

दिन बीते, माह बीते, वर्ष बीत गया। उसकी सुख-सुविधा की सब व्यवस्था थी। जो उसे बाहर उपलब्ध नही था, वह सब कैद मे उपलब्ध था। शाही आतिथ्य जो था !

लेकिन वर्ष पूरा होने पर विशेषज्ञो ने कहा 'वह पागल हो गया है।'

ऊपर से वह वैसा ही था। शायद ज्यादा ही स्वस्थ था। लेकिन भीतर ?

भीतर एक अर्थ मे वह मर ही गया था।

मै पूछता हूँ क्या एकाकीपन किसी को पागल कर सकता है ? एकाकीपन कैसे पागल करेगा ?

वस्तुत पागलपन तो पूर्व से ही है। बाह्य सबध उसे छिपाये थे। एकाकीपन उसे अनावृत्त कर देता है।

मनुष्य की अपने को भीड़ मे खोने की अकुलाहट उससे बचने के लिए ही है।

प्रत्येक व्यक्ति इसलिए ही स्वय से पलायन किये हुए है।

पर यह पलायन स्वास्थ्य नही कहा जा सकता है।

तथ्य को न देखना, उससे मुक्त होना नही है।

जो नितांत एकाकीपन में स्वस्थ और सतुलित नहीं है, वह धोखे मे है।

यह आत्मवचना कभी-न-कभी खडित होगी ही।

और वह जो भीतर है, उसे उसकी परिपूर्ण नग्नता मे जानना होगा।

यह अपने आप अनायास हो जाये, तो व्यक्तित्व छिन्नभिन्न और विक्षिप्त हो जाता है।

जो दमित है, वह कभी-न-कभी विस्फोट को भी उपलब्ध होता है।

धर्म इस एकाकीपन मे स्वय होकर उतरने का विज्ञान है।

क्रमश. एक-एक पर्त उघाड़ने पर अद्‌भुत सत्य का साक्षात् होता है।
धीरे-धीरे ज्ञात होता है कि वस्तुत: हम अकेले ही हैं।
गहराई में, आतंरिकता के केन्द्र पर प्रत्येक एकाकी है।
और उस एकाकीपन से परिचित न होने के कारण भय मालूम होता है।
अपरिचय और अज्ञान भय देता है।
परिचित होते ही भय की जगह अभय और आनन्द ले लेता है।
एकाकीपन के घेरे मे स्वय सच्चिदानन्द विराजमान है।
अपने मे उतरकर स्वय प्रभु को पा लिया जाता है।
इससे कहता हूँ अकेलेपन से, अपने से भागो मत, वरन् अपने में डूबो।
सागर में डूबकर ही मोती पाये जाते हैं।

४८ / ज्ञान से अहंकार विसर्जित

रात्रि पानी गिरा है। सड़कें भीगी हुई हैं। हवाएँ आर्द्र हैं और आकाश में अब भी बादल हैं। लगता है कि सूरज नहीं निकलेगा। सुबह बड़ी उदास लग रही है।

एक युवक आये हैं। बहुत पढ़-लिख रखा है, ऐसा मालूम होता है। बातों में किताबों-ही-किताबों की गंध है। यह गंध कितनी ऊब पैदा करती है!

मैं उन्हें सुनता हूँ, वैसे वे ही मुझे सुनने आये थे। एक घंटा बोलते रहे हैं, पर जो कहा है, सब पराया है। हमारी आज की शिक्षा यही यांत्रिकता ला रही है। वह सृजनात्मक नहीं है। विचार का नहीं, उससे केवल स्मृति का ही जन्म होता है। **विचार तो मिल जाते हैं, पर विचार-शक्ति नहीं मिलती।** यह स्थिति बहुत घातक है। इससे अपना व्यक्तित्व और विचार, अपनी स्वानुभूति का कोई विकास नहीं हो पाता है। व्यक्ति केवल यंत्र की भाँति दूसरों को दोहराता है।

वह शिक्षा वास्तविक नहीं है, जो केवल स्मृति को ही भरती है।

ऐसी शिक्षा, शिक्षा का आभास मात्र ही है।

शिक्षा से तो उस अंतर्दृष्टि का जन्म होना चाहिए, जो स्वयं समस्याओं में देखने में समर्थ होती है।

समस्याएँ मेरी हैं, तो समाधान दूसरों के काम नहीं दे सकते हैं।

और, फिर प्रत्येक समस्या इतनी नयी है कि कोई भी पुराना समाधान उसके लिए समाधान नहीं हो सकता है।

शिक्षा से हमारे भीतर जो प्रसुप्त शक्ति है—मेधा है, उसका जागरण होना चाहिए, न कि हमें केवल उन विचारों से भर दिया जाना चाहिए, जो कि न हमने जिये हैं और न जाने हैं, जो कि हमारे लिए एकदम मृत हैं।

और जिनसे केवल हमारा भार ही बढ़ सकता है।

इस मृत-भार के नीचे मेधा का जागरण असंभव हो जाता है।

मैं रोज अपने चारों ओर ऐसे लोगों को देख रहा हूँ जो कि उन विचारों के बोझ से दबे जा रहे हैं, जो कि उन्होंने जाने नहीं, स्वीकार कर लिये हैं।

वह विचार जो स्वयं नहीं जाना गया है, अनिवार्यतः भार बन जाता है।

शिक्षा विचारों का निष्क्रिय स्वीकार नहीं होना चाहिए। वह तो सक्रिय समझ और सृजनात्मक बोध पर आधारित हो, तो ही सार्थक है।

मैं इन बातों में उन युवक को भूला ही जा रहा हूँ। वे जब अपने—जो कि जरा भी अपने नहीं है—विचारों को बोलकर चुप हुए तो उन्होंने गौरव से चारों ओर इस भाव से देखा कि मैं भी जानता हूँ।

ज्ञान कितना कठिन, पर ज्ञान का अहंकार कितना आसान है!

ज्ञान तो नही आ पाता है, पर अहंकार अवश्य आ जाता है। और स्मरण रहे कि वे दोनों बिलकुल ही विपरीत आयाम हैं।

ज्ञान तो अहंकार की मृत्यु है। और जहाँ वह हो, वहाँ जाना जा सकता है कि ज्ञान नही है। वह ज्ञान के अभाव की पर्याप्त सूचना है।

ज्ञान अहंकार-शून्यता लाता है।

व्यक्ति जितना जानता है, उतना ही उसे अज्ञान का बोध प्रगाढ़ होता जाता है।

ज्ञान रहस्य को मिटाता नही, खोलता है। और उस क्षण जब जगत् का और स्वय का सपूर्ण रहस्य सामने होता है—ज्ञान के उस उत्ताप बिन्दु पर—व्यक्ति शून्य हो जाता है और उसका समस्त अह-बोध विसर्जित हो जाता है।

अहकार अज्ञान के अधकार की उत्पत्ति था, ज्ञान के प्रकाश मे वह मर जाता है।

मैं थोडी देर चुप रहा और फिर उनसे कहा मैं आपको सुनना चाहता था, पर आप तो कुछ कहते ही नही हैं। यह जो कहा—कुछ भी आपका नही है। यह सब तो उधार है। और पराये से समृद्धि नही आती है। उससे दरिद्रता ढँक सकती है, पर मिटती नही है।

सत्य के सबध मे केवल अपनी ही अनुभूति सत्य और जीवित होती है। वह हो तो जीवन में क्रान्ति हो जाती है, अन्यथा सत्य के सबध मे मृत, पराये विचार ढोने से कुछ भी हाथ नही आता है। उससे केवल बोझ ही बढता है और स्वानुभव की सभावना दूर हो जाती है।

ज्ञान जो अपना नही है, उस ज्ञान के उदय मे बाधा बन जाता है, जो कि केवल अपना ही हो सकता है।

४९ / मन की पर्तें

सध्या रुकी-सी लगती है। पश्चिमोन्मुख सूरज बादलों में छिप गया है, पर रात्रि अभी नहीं हुई। एकांत है बाहर भी, भीतर भी। अकेला हूँ—कोई बाहर नहीं है, कोई भीतर भी नहीं है।

मैं इस समय कहीं भी नहीं हूँ या कि वहाँ हूँ, जहाँ शून्य है। और जब मन शून्य होता है, तो होता ही नही है।

यह मन अद्‌भुत है।

प्याज की गाँठ की तरह अनुभव होता है।

एक दिन प्याज को देख कर यह स्मरण आया था। उसे छीलता था—छीलता गया—पर्तों पर पर्तें निकलती गयी और फिर हाथ में कुछ भी न बचा। मोटी खुरदरी पर्तें, फिर मुलायम चिकनी पर्तें और फिर कुछ भी नही।

मन भी ऐसा ही है उघाड़ते चले—स्थूल पर्तें, फिर सूक्ष्म पर्तें, फिर शून्य।

विचार, वासनाएँ और अहकार और बस। फिर कुछ भी नही है, फिर शून्य है।

इस शून्य को उघाड़ लेने को ही मैं ध्यान कहता हूँ।

यह शून्य ही हमारा स्वरूप है।

वह जो अतत शेष बच रहता है, वही स्वरूप है।

उसे आत्मा कहे, चाहे अनात्मा। शब्द से कुछ अर्थ नही है।

विचार, वासना, अहकार जहाँ नही है, वही वह है 'जो है।'

ह्यूम ने कहा जब भी मैं अपने मे जाता हूँ, कोई 'मैं' मुझे वहाँ नही मिलता है—या तो विचार से टकराता हूँ, या किसी वासना से या किसी स्मृति से। पर स्वय से कोई मिलना नही होता है।'

यह बात ठीक ही है। पर ह्यूम पर्तों से ही लौट आते हैं। यही उनकी भूल है। वे थोड़ा और गहरे जाते तो वहाँ पहुँच जाते जहाँ कि टकराने को कुछ भी नहीं है। वही है स्वरूप।

जहाँ टकराने को कुछ भी शेष नही रह जाता है, वहाँ वह है, जो मैं हूँ।

उस शून्य पर ही सब खड़ा है, पर कोई यदि सतह से ही लौट आवे, तो उससे परिचय नही हो पाता है।

सतह पर ससार है, केन्द्र मे स्व है।

सतह पर सब है। केन्द्र मे शून्य है।

५० / "मैं" का रहस्योद्‌घाटन

धूप मे घूमकर लौटा हूँ। सर्दियो की कुनकुनी धूप कितनी सुखद मालूम होती हैं। सूरज निकाला ही है और किरणो की गरमाहट आहिस्ता-आहिस्ता बढ रही है।

एक व्यक्ति साथ थे। मै राह भर चुप रहा, पर वे बोलते ही रहे। सुनता था तो एक बात ध्यान मे आयी कि हम कितनी बार 'मै' का प्रयोग करते है। इस 'मै' केन्द्र से ही सब जुडा रहता है। जन्म के बाद सभवत 'मै' का बोध सबसे पहले उठता है और मृत्यु के समय सबसे अन्त मे यह जाता है। इन दो छोरो के बीच मे भी उसका ही विस्तार होता है।

इतना सुपरिचित यह 'मै' है, पर कितना अज्ञात भी है। इससे अधिक रहस्यमय शब्द मानवीय भाषा मे दूसरा नही है।

जीवन बीत जाता है, पर 'मै' का रहस्य शायद ही उघड पाता हो!

यह 'मै' कौन है?

इसे अस्वीकार करना भी सभव नही है। निषेध मे भी यह प्रस्तावित हो जाता है। 'मै नही हूँ' कहने मे भी वह उपस्थित हो जाता है।

मानवीय बोध मे यह 'मै' सबसे सुनिश्चित और असदिग्ध तत्त्व है।

'मै हूँ', यह बोध तो है, पर 'मै कौन हूँ', यह सहज ज्ञान नही है। इसे जानना साधना से ही सुलभ है।

समस्त साधना 'मै' को जानने की साधना है। समस्त धर्म, समस्त दर्शन इस एक प्रश्न के ही उत्तर है।

'मै कौन हूँ?' इसे प्रत्येक को अपने से पूछना है।

सब छूट जाये और एक प्रश्न ही रह जाये। सारे मन पर गूँजती यह एक जिज्ञासा ही रह जाये।

तो ऐसे यह प्रश्न अचेतन मे उतर जाता है।

प्रश्न जैसे-जैसे गहरा होने लगता है, वैसे-वैसे सतही तादात्म्य टूटने लगते है।

दीखने लगता है कि मै शरीर नही हूँ। दीखने लगता है कि मै मन नही हूँ। दीखने लगता है कि मै तो वह हूँ, जो सबको देख रहा है। द्रष्टा हूँ मै, साक्षी हूँ मै।

यह अनुभूति 'मै' के वास्तविक स्वरूप का दर्शन बन जाती है।

शुद्ध-बुद्ध, द्रष्टा-चेतना का साक्षात् हो जाता है।

इस सत्-ज्ञान के उदय से जीवन के रहस्य का द्वार खुलता है ।
अपने से परिचित होकर हम जगत् के समस्त रहस्य से परिचित हो जाते हैं ।
'मैं' का ज्ञान ही प्रभु का ज्ञान बन जाता है ।
इसलिए कहता हूँ कि यह 'मैं' बहुमूल्य है ।
इसकी परिपूर्ण गहराई में उतर जाना सब-कुछ पा लेना है ।

५१ / धर्म विचार नहीं, साधना है

रात्रि की शान्ति मे नगर सो गया है। एक अतिथि को साथ लेकर मैं घूमकर लौटा हूँ। मार्ग में बहुत बाते हुई हैं। अतिथि अनात्मवादी हैं। विद्वान् हैं और उन्होंने खूब पढ़ा-लिखा है। बहुत तर्क उन्होंने इकट्ठे किये है। मैंने वह सब शान्त हो सुना है और फिर सिर्फ एक ही बात पूछी है कि क्या इन सारे विचारो से शान्ति और आनन्द उन्हें उपलब्ध हो रहा है?

इस पर वे थोड़े सकुचा गये हैं और उत्तर नही खोज पाये हैं।

सत्य की कसौटी तर्क नही है। सत्य की कसौटी विचार नही है।

सत्य की कसौटी है आनन्दानुभूति।

विचार-सरणी सम्यक् हो तो परिणाम मे जीवन आनन्द-चेतना से भर जाता है।

इस स्थिति को ही पाने के लिए सब विचार है और जो विचार-दर्शन यहाँ नही ले आता, वह अविचार ही ज्यादा है।

इससे, मैंने उनसे कहा 'मैं आपकी बातो का विरोध नही करता हूँ, बस आपसे ही—अपने आपसे यह प्रश्न पूछने की विनय करता हूँ।'

धर्म विचार नही है। वह तो भागवत्-चैतन्य उपलब्ध करने का एक विज्ञान मात्र है।

उसकी परीक्षा विवाद में नहीं, प्रयोग में है।

वह सत्य-निर्णय नहीं, सत्य-साधना और सिद्धि है।

५२ / गृहपति का ज्ञान

एक झोपडे मे बैठा हूँ। छप्पर की रन्ध्रो से सूरज का प्रकाश गोल चकतो में फर्श पर पड रहा है। उनमे उडते धूलिकण दीख रहे है। प्रकाश के वे अग नही है, पर उन्होने प्रकाश को धूमिल कर दिया है। वे प्रकाश को छू भी नही सकते है, क्योकि वे अत्यत भिन्न और विजातीय है, फिर भी प्रकाश उनके कारण मैला हो गया दीखता है। प्रकाश तो अब भी प्रकाश है। उसके स्वरूप मे कोई भेद नही पडा है। पर उसकी देह—उसकी अभिव्यक्ति—अशुद्ध हो गयी है। इन विजातीय अतिथियो के कारण आतिथेय बदला हुआ दीख रहा है।

ऐसा ही मनुष्य की आत्मा के साथ भी हुआ है।

उसमे भी बहुत-से विजातीय धूलिकण अतिथि बन गये है और उन धूलिकणो मे उसका जो स्वरूप है, वह छिप गया है।

आतिथेय जैसे बहुत अतिथियो में खो जाय और पहचाना न जा सके, ऐसा ही हो गया है।

पर जो जीवन से परिचित होना चाहते है और सत्य का साक्षात् करना चाहते है, उनके लिए आवश्यक है कि वे अतिथियो की भीड मे उसे पहचाने जो कि अतिथि नही है और गृहपति है।

इस गृहपति को जाने बिना जीवन एक निद्रा है। उसकी पहचान मे ही जागरण का प्रारम्भ होना है।

वह पहचान ही ज्ञान है। उस पहचान मे उसमे परिचय होता है, जो कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध है।

प्रकाश धूलिकणो मे अशुद्ध नही होता है, न ही आत्मा होती है।

प्रकाश धूमिल हो जाता है, आत्मा विस्मरण हो जाती है।

आत्मा के प्रकाश पर कौन-सी धूल है?

वह सब जो भी मुझमे बाहर से आया है—वह सब धूल है। उसके अतिरिक्त जो मुझमे है, वही मेरा स्वरूप है।

इद्रियों से जो भी उपलब्ध और सग्रहीत हुआ है, वह सब धूल है।

ऐसा क्या है मुझ में जो इद्रियो से उपलब्ध नही है? रूप, रस, गध, स्पर्श, ध्वनि—इनके अतिरिक्त और मुझमे क्या है?

वह सत्य है चेतना—जो कि इद्रियो से गृहीत नही है।

वह इद्रियो से नही आयी है—वरन् उनके पीछे है।

यह चेतना ही मेरा स्वरूप है : शेष सब विजातीय धूल है। वही गृहपति है, शेष सब अतिथि है।

इस चेतना को ही जानना और उघाड़ना है।

उसमें ही उस संपदा की उपलब्धि होती है जो कि अविनश्वर है।

५३ / अमृत द्रष्टा का अपरोक्ष बोध

भोर का आखिरी तारा डूब रहा है। कुहासे मे ढँकी सुबह का जन्म होने को है। पूरब पर प्रसव की लाली फैल गयी है।

एक मित्र ने अपने किसी प्रियजन की मृत्यु की खबर दी है। रात्रि ही देह से उनका सम्बन्ध टूटा है। फिर, थोडी देर की चुप्पी के बाद वे मृत्यु पर बात करने लगे हैं। बहुत-सी बातें और अत में उन्होंने पूछा 'रोज मृत्यु होती है, फिर भी प्रत्येक ऐसे जीता जाता है कि जैसे उसे नही मरना है। यह समझ मे ही नही आता है कि मैं भी मर सकता हूँ। इतनी मृत्यु के बीच यह अमृत्यु का विश्वास क्यो है?'

यह विश्वास बहुत अर्थपूर्ण है। यह इसलिए है कि **मर्त्य देह में जो बैठा है, वह मर्त्य नहीं है।** मृत्यु की परिधि है, पर केन्द्र पर मृत्यु नही है।

वह जो देख रहा—देह-मन का द्रष्टा—वह जानता है कि मै देह और मन से पृथक् हूँ।

वह मर्त्य का द्रष्टा, मर्त्य नही है।

वह जान रहा है 'मेरी मृत्यु नही है। मृत्यु केवल देह-परिवर्तन है। मै नित्य हूँ सब मृत्युओ को पार करके भी मै अमृत शेष रह जाता हूँ।'

पर, यह बोध अचेतन है, इसे चेतन बना लेना ही मुक्त हो जाना है।

मृत्यु प्रत्यक्ष दीखती है, अमृत का बोध परोक्ष है—उसे भी जो प्रत्यक्ष बना लेता है, वह जान लेता है उसे—जिसका न जन्म है, न मृत्यु है।

वह जीवन—जो जीवन और मृत्यु के अतीत है—पा लेना ही मोक्ष है।

यह प्रत्येक के भीतर है, उसे केवल जानना भर है।

एक साधु से किसी ने पूछा था 'मै—मृत्यु क्या है और जीवन क्या है?—यह जानने आपके पास आया हूँ।' उस साधु ने प्रत्युत्तर मे जो कहा, वह अद्भुत है। उसने कहा था 'तब कही और जाओ। मै जहाँ हूँ, वहाँ न मृत्यु है, न जीवन है।'

५४ / विकारों की खाद और दिव्यता के फूल

मैंने कल कहा है मिट्टी फूल बन जाती है। और गदगी खाद बनकर सुगन्ध में परिणत होती है। ऐसे ही मनुष्य के विकार हैं। वे शक्ति हैं। जो मनुष्य में पशु जैसा दीखता है, वही दिशा परिवर्तित होने पर दिव्यता को उपलब्ध हो जाता है। पशुता में और दिव्यता में विरोध नही, विकास है।

इसलिए अदिव्य भी बीजरूप मे दिव्य है।

और तब वस्तुत अदिव्य कुछ भी नहीं है। समस्त जीवन दिव्यता है। सब कुछ दिव्य है।

भेद केवल उस दिव्यता की अभिव्यक्ति के हैं।

और ऐसा देखने पर कुछ भी घृणा करने योग्य नही रह जाता है।

जो एक छोर पर पशु है, वही दूसरे छोर पर प्रभु है।

पशुता में और दिव्यता में विरोध नहीं, विकास है।

ऐसी पृष्ठभूमि मे चलने पर आत्म-दमन और उत्पीडन व्यर्थ है। वह सर्वथं अवैज्ञानिक है।

अपने को दो मे तोडकर कोई कभी आत्म-शान्ति और ज्ञान को उपलब्ध नही हो सकता है।

जो मै ही हूँ, उसके एक अश को नष्ट नही किया जा सकता।

वह दब सकता है, लेकिन जिसे दमन किया गया है, उसे निरतर दमन करना होता है।

जो हराया गया है, उसे निरतर हराना होता है।

विजय उस मार्ग से कभी पूर्ण नही हो पाती है।

विजय का पथ दूसरा है।

वह दमन का नही ज्ञान का है।

वह गदगी को हटाने का नही है, क्योकि वह गंदगी भी मै ही हूँ। वह उसे खाद बनाने का है। इसे ही पुरानी अलकेमी में 'लोहे को स्वर्ण बनाना' कहा गया है।

५५ / 'स्व' और 'पर' की पृथकता से ही अभय

महावीर ने पूछा है 'श्रमणो, प्राणियो को भय क्या है ?'

कल कोई यही पूछता था। और कोई पूछे या न पूछे, प्रश्न तो यही प्रत्येक की आँखो मे है। शायद यह सनातन प्रश्न है और शायद यह अकेला ही प्रश्न है, जो सार्थक भी है।

प्रत्येक भयभीत है। ज्ञात मे, अज्ञात मे, भय सरक रहा है। उठते-बैठते, सोते-जागते भय बना हुआ है। प्रत्येक क्रिया मे, व्यवहार मे, विचार मे भय है। प्रेम मे, घृणा मे, पुण्य मे, पाप मे, सबमे भय है। मानो हमारी पूरी चेतना ही भय से निर्मित है। हमारे विश्वास, धारणाएँ, धर्म और ईश्वर भय के अतिरिक्त और क्या है ?

यह भय क्या है ?

भय के रूप अनेक है, पर भय एक ही है। वह मृत्यु है। वह मूल भय है।

मिटने की, न हो जाने की सभावना ही समस्त भय के मूल में है। भय याने न हो जाने की, मिटने की आशका। इस आशका से बचने को पूरे जीवन प्रयास चलता है।

सब प्रयास इस मूल असुरक्षा से बचने को है।

पर पूरे जीवन दौडकर भी 'होना' सुनिश्चित नही हो पाता है। दौड हो जाती है समाप्त—असुरक्षा वैसी ही बनी रहती है। जीवन हो जाता है पूरा, और मृत्यु टल नही पाती है। उल्टे, जो जीवन दीखता था, वह पूरा होकर मृत्यु मे परिणत हो जाता है। तब ज्ञात होता है कि जीवन जैसे था ही नहीं, केवल मृत्यु विकसित हो रही थी। जन्म और मृत्यु जैसे मृत्यु के ही दो छोर थे।

यह मृत्यु का भय क्यो है ? मृत्यु तो अज्ञात है वह तो अपरिचित है। उसका भय कैसे होगा ? जो ज्ञात ही नही है, उससे सबध भी क्या हो सकता है ?

वस्तुत जिसे हम मृत्यु का भय कहते है, वह मृत्यु का न होकर, जिसे हम जीवन जानते है, उसके खोने का डर है। जो ज्ञात है, उसके खोने का भय है।

जो ज्ञात है, उससे हमारा तादात्म्य है। वही हमारा होना बन गया है। वही हमारी सत्ता बन गयी है। मेरा शरीर, मेरी सपत्ति, मेरी प्रतिष्ठा, मेरे सबध, मेरे सस्कार, मेरे विश्वास, मेरे विचार—यही मेरे 'मै' के प्राण बन गये है। यही 'मै' हो गया है।

मृत्यु इस 'मैं' को छीन लेगी। यही भय है।

इस सबको इकट्ठा किया जाता है भय से बचने को, सुरक्षा पाने को और होता उल्टा है। इसे खोने की आशका ही भय बन जाती है।

मनुष्य साधारणत जो भी करता है, वह सब जिसके लिए किया जाता है, उसके विपरीत चला जाता है।

अज्ञान में आनन्द के लिए उठाये गये सब कदम दुःख में ले जाते हैं। अभय के लिए चला गया रास्ता और भय में ले जाता है। जो 'स्व' की प्राप्ति मालूम होता है, वह 'स्व' नहीं है। यदि इस सत्य के प्रति जागना हो जाये—यदि मैं यह जान सकूँ कि जिसे मैंने 'मैं' जाना है वह 'मैं' नहीं हूँ और इस क्षण भी मेरे तादात्म्यों से मैं भिन्न और पृथक् हूँ, तो भय विसर्जित हो जाता है।

मृत्यु में जो 'पर' है, वही खोता है।

इस सत्य को जानने को कोई क्रिया कोई उपाय नहीं करना है।

केवल उन-उन तथ्यों को जानना है, उन-उन तथ्यों के प्रति जागना है, जिन्हें मैं समझता हूँ कि 'मैं' हूँ—जिनसे मेरा तादात्म्य है।

जागरण तादात्म्य तोड़ देता है।

जागरण 'स्व' और 'पर' को पृथक् कर देता है।

स्व-पर का तादात्म्य भय है, पृथक् बोध भय-मुक्ति है। अभय है।

५६ / प्रभु का द्वार : अक्रियापूर्ण चैतन्य

एक साधु ने अपने आश्रम के अंतेवासियों को जगत् के विराट् विद्यालय में अध्ययन के लिए यात्रा को भेजा था। समय पूरा होने पर वे सब, केवल एक को छोड़कर, वापस लौट आये थे। उनके ज्ञानार्जन और उपलब्धियों को देखकर गुरु बहुत प्रसन्न हुआ था। वे बहुत-कुछ सीखकर वापस लौटे थे। फिर, अंत में पीछे छूट गया युवक भी लौटा। गुरु ने उससे कहा 'निश्चय ही तुम सबसे बाद में लौटे हो, इसलिए सर्वाधिक सीखकर लौटे होगे।' उस युवक ने कहा 'मैं कुछ भी सीखकर नहीं लौटा हूँ, उल्टे जो आपने सिखाया था, वह भी भूल आया हूँ।' इससे अधिक निराशाजनक और क्या उत्तर हो सकता था?

फिर, एक दिन वह युवक गुरु की मालिश कर रहा था। गुरु की पीठ को मलते हुए उसने स्वगत ही कहा **'मंदिर तो बहुत सुंदर है, पर भीतर भगवान् की मूर्ति नहीं है।'** गुरु ने सुना। उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। निश्चय ही वे शब्द उससे ही कहे गये थे। उसके ही सुंदर शरीर को उसने मंदिर कहा था। और, गुरु के क्रोध को देखकर वह युवक हँसने लगा था। वह ऐसा ही था कि जैसे कोई जलती अग्नि पर और घृत डाल दे। गुरु ने उसे आश्रम से अलग कर दिया था।

और फिर एक सुबह जब गुरु अपने धर्मग्रंथ का अध्ययन कर रहा था, वह युवक अनायास कहीं से आकर पास बैठ गया था। वह बैठा रहा, गुरु पढ़ता रहा। और तभी एक जंगली मधुमक्खी कक्ष में आकर बाहर जाने का मार्ग खोजने लगी थी। द्वार तो खुला ही था—वही द्वार जिससे वह भीतर आयी थी, पर वह बिलकुल अंधी होकर बंद खिड़की से निकलने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी। उसकी भनभन मंदिर के सन्नाटे में गूँज रही थी। उस युवक ने खड़े होकर जोर से उस मधुमक्खी से कहा **'ओ, नासमझ, वहाँ द्वार नहीं, दीवार है। रुक और पीछे देख**–*Stop and see back*। जहाँ से तेरा आना हुआ है, द्वार वहीं है।'

मधुमक्खी ने तो नहीं, पर उस गुरु ने ये शब्द अवश्य सुने और उसे द्वार मिल गया। उसने उस युवक की आँखों में पहली बार देखा। वह वही नहीं था, जो यात्रा पर गया था। ये आँखें दूसरी ही थीं। उसने उस दिन जाना कि वह जो सीखकर आया है, वह कोई साधारण सीखना नहीं है।

वह सीखकर नहीं, कुछ जानकर आया था।

गुरु ने उससे कहा 'मैं आज जान रहा हूँ कि मेरा मंदिर भगवान् से खाली है, और मैं आज जान रहा हूँ कि मैं आज तक दीवार से ही सिर मारता रहा हूँ, और द्वार

मुझे नहीं मिला है। पर अब मैं द्वार को पाने के लिए क्या करूँ, और क्या करूँ कि मेरा मंदिर भगवान् से खाली न रहे ?'

उस युवक ने कहा 'भगवान् को चाहते हो, तो स्वय से खाली हो जाओ। जो स्वय से भरा है, वही भगवान् से खाली है, और जो स्वयं से खाली हो जाता है, वह पाता है कि वह सदा से ही भगवान् से भरा हुआ था। और, इस सत्य तक द्वार पाना चाहते हो, तो वही करो जो अब वह मधुमक्खी कर रही है।'

गुरु ने देखा कि वह मधुमक्खी अब कुछ भी नही कर रही थी। वह दीवार पर बैठी है, और बस बैठी है। उसने समझा। उसने जाना। जैसे अंधेरे में बिजली कौंध गयी हो, ऐसे उसने जाना। और उसने यह भी देखा कि वह मधुमक्खी द्वार से बाहर जा रही है।

यह कथा मेरा पूरा सदेश है। यही मैं कह रहा हूँ।

भगवान् को पाने को कुछ करना नहीं है, वरन् सब करना छोड़कर देखना है।

चित्त जब शांत होता है, और देखता है, तो द्वार मिल जाता है।

शांत और शून्य चित्त ही द्वार है।

उस शून्य के लिए ही मेरा आमत्रण है।

वह आमन्त्रण धर्म का ही है। उस आमत्रण को स्वीकार कर लेना ही धार्मिक होना है।

५७ / मूर्छित मनुष्य की दरिद्रता

नील नभ के नीचे सूरज की गरमी फैल गयी है। सर्दी घनी हो गयी है और दूब पर जमे ओस-कण बर्फ जैसे ठंडे लगते हैं। फूलों मे ओस की बूंदे टपक रही हैं। रातरानी रात भर सुगंध देकर सो गयी है।

एक मुर्गा बाँग देता है और फिर दूर-दूर से उसके प्रत्युत्तर आते हैं। वृक्ष मलय के झोकों से कँप रहे हैं और चिडियों के गीत बंद ही नही होते हैं।

सुबह अपने हस्ताक्षर सब जगह कर देती है। सारा जगत् अचानक कहने लगता है कि सुबह हो गयी है।

मैं बैठा दूर वृक्षों मे खो गये रास्ते को देखा करता हूँ। धीरे-धीरे राह भरने लगती है और लोग निकलते हैं। वे चलते, पर सोये से लगते हैं। **किसी आंतरिक तंद्रा ने सबको पकड़ा हुआ है।** सुबह के इन आनन्द-क्षणों के प्रति वे जागे हुए नहीं लगते है, जैसे कि उन्हे ज्ञात ही नही कि जो जगत् के पीछे है, वह इन क्षणों मे अनायास ही प्रकट हो जाता है।

जीवन में कितना संगीत है और मनुष्य कितना बधिर है।

जीवन मे कितना सौंदर्य है और मनुष्य कितना अंधा है।

जीवन में कितना आनंद है और मनुष्य कितना संवेदन-शून्य है।

उस दिन उन पहाड़ियों पर गया था। उन सुन्दर पर्वत-पंक्तियों मे हम देर तक रुके थे, पर जो मेरे साथ थे वे जीवन की दैनंदिन क्षुद्र बातों मे ही लगे रहे थे — उन सब बातों में जिनका कोई अर्थ नही, जिनका होना न होना बराबर है। इन बातों की ओट ने उन्हे उस पर्वतीय सध्या के सौंदर्य मे वंचित कर दिया था।

इस तरह क्षुद्र से आवेष्टित हम विराट् से अपरिचित रह जाते हैं और जो निकट ही है, वह अपने ही हाथों दूर पड़ जाता है।

मैं कहना चाहता हूँ ओ मनुष्य! तुझे खोना कुछ भी नही है, सिवाय अपने अंधेपन के और पा लेना है सब-कुछ। **अपने हाथों बने भिखारी! आँखें खोल। पृथ्वी और स्वर्ग का सारा राज्य तेरा है।**

५८ / समयशून्यता और ध्यान में प्रवेश

कल दोपहर एक पहाडी के अचल मे थे । धूप-छाया के विस्तार मे बडी सुखद घडियाँ बीती । निकट ही था एक तालाब और हवा के तेज थपेडो ने उसे बेचैन कर रखा था । लहरे उठती-गिरती और टूटती । उसका सब-कुछ विक्षुब्ध था ।

फिर हवाएँ सो गयी और तालाब भी सो गया ।

मैंने कहा "देखो, जो बेचैन होता है, वह शान्त भी हो सकता है । बेचैनी अपने मे शान्ति को छिपाये हुए है । तालाब अब शान्त है । तब भी शान्त था । लहरे ऊपर ही थी, भीतर पहले भी शान्ति थी ।'

मनुष्य भी ऊपर ही अशान्त है । लहरे ऊपर ही है, भीतर गहराई मे घना मौन है ।

विचारो की हवाओ से दूर चले और शान्त सरोवर के दर्शन शुरू हो जाते है ।

यह सरोवर अभी और यही पाया जा सकता है । समय का प्रश्न ही नही है, क्योकि समय वही तक है, जहाँ तक विचार है ।

ध्यान समय के बाहर है ।

ईसा ने कहा है "और, वहाँ समय नही है ।" "And there shall be time no longer "

समय मे दुःख है । समय दुःख है ।

समयातीत होना आनन्द मे होना है । समयातीत होना आनन्द होना है ।

चलो मित्र, समय के बाहर चले—वही हम है ।

समय के भीतर जो दीखता है, वह समय के बाहर ही है । इतना जानना ही चलना है ।

जाना कि हवाएँ रुक जाती है । और सरोवर शान्त हो जाता है ।

५९ / पूर्णशून्यता + पूर्णचैतन्य = समाधि

मैं मनुष्य को शब्दो से घिरा देखता हूँ।

पर शास्त्र और शब्द व्यर्थ हैं।

उस भांति सत्य के सम्बन्ध में जाना जा सकता है, लेकिन सत्य को जानने का वह मार्ग नही है।

शब्द से सत्ता नही आती है। सत्ता का द्वार शून्य है।

शब्द से नि शब्द मे छलाग लगाने का साहस ही धार्मिकता है।

विचार 'पर' को जानने का उपाय है, वह 'स्व' को नही देता है। 'स्व' उसके भी पीछे जो है। 'स्व' सबके पूर्व है। 'स्व' से हम सत्ता मे सयुक्त हैं।

विचार भी 'पर' है। वह भी जब नही है, तब वह 'जो है' होता है। उसके पूर्व मैं 'अह' हूँ उसमें 'ब्रह्म' हूँ।

सत्य मे—सत्ता मे, स्व—पर मिट जाता है। वह भेद भी विचार मे और विचार का ही था।

चेतना के तीन रूप है (१) बाह्य मूर्च्छित—अतर्मूर्च्छित, (२) बाह्य जागृत—अतर् मूर्च्छित, और (३) बाह्य जागृत—अतर् जागृत। पहला रूप मूर्च्छा—**अचेतना** का है। वह जडता है। वह विचार-पूर्व स्थिति है। दूसरा रूप अर्ध-मूर्च्छा—**अर्ध-चेतना** का है। वह जड और चेतन के बीच है। वह विचार की स्थिति है। तीसरा रूप अमूर्च्छा—**पूर्ण चेतना** का है। वह पूर्ण चैतन्य है और विचारातीत है।

सत्य को जानने को केवल विचाराभाव ही नही पाना है। वह तो जडता मे, मूर्च्छा में ले जाता है। धर्म के नाम से प्रचलित बहुत-सी क्रियाएँ मूर्च्छा मे ही ले जाती हैं। शराब, सेक्स और सगीत भी मूर्च्छा मे ही ले जाते है। मूर्च्छा मे पलायन है। वह वह उपलब्धि नही है।

सत्य को पाने को विचार-शून्यता + चैतन्य पाना होता है। उस स्थिति का नाम ही समाधि है।

पूर्णिमा है, लेकिन आकाश बादलो से ढँका है।

मैं राह से आया हूँ। एक रेत के ढेर पर कुछ बच्चे खेल रहे थे। उन्होने रेत के कुछ घर बनाये और उस पर से ही उनके बीच में झगडा हो गया था। रेत के घरो पर ही सारे झगडे होते हैं। वे तो बच्चे ही थे, पर थोडी देर में जो बच्चे नहीं थे, वे भी उसमे सम्मिलित हो गये। बच्चो के झगडे में, बाद में बडे भी सम्मिलित हो गये थे।

मै किनारे खडा सोचता रहा कि बच्चो और बडो का विभाजन कितना कृत्रिम है! आयु वस्तुत कोई भेद नही लाती, और उससे प्रौढ़ता का कोई सम्बन्ध नही है।

हममे से अधिक बच्चे ही मर जाते हैं। लाओत्से के सबध मे कथा है कि वह बूढा ही पैदा हुआ था। यह बात बहुत अस्वाभाविक लगती है। पर क्या इससे भी अधिक अस्वाभाविक घटना यह नही है कि कोई मरते समय तक भी प्रौढ़ता को उपलब्ध न हो पाये? शरीर विकसित हो जाते हैं, पर चित्त वही का वही ठहरा रह जाता है। तभी तो सभव है कि रेत के घर पर झगडे चले और आदमी आदमी के वस्त्रो को उतार क्षण मे नग्न हो जाये और जाहिर कर दे कि सब विकास की बातें व्यर्थ हैं। और कौन कहता है कि मनुष्य पशु से पैदा हुआ है? **मनुष्य के पशु से पैदा होने की बात गलत है, क्योंकि वह तो अभी भी पशु ही है!**

क्या अभी मनुष्य पैदा नही हुआ है?

मनुष्य को गहरा देखने मे जो उत्तर मिलता है, वह 'हाँ' मे नही मिलता है।

डायोजिनीज दिन को, भरी दोपहरी मे भी अपने साथ एक जलती हुई लालटेन लिये रहता था, और कहता था कि मै मनुष्य को खोज रहा हूँ। वह जब वृद्ध हो गया था, तो किसी ने उससे पूछा कि क्या उसे अब भी 'मनुष्य' को खोज लेने की आशा है। उसने कहा 'हाँ। क्योकि अब भी जलती हुई लालटेन मेरे पास है!'

मै खडा रहा हूँ और उस रेत के ढेर के पास बहुत भीड इकट्ठी हो गयी है और लोग गाली-गलौज का और एक-दूसरे को डराने-धमकाने का बहुत रस-मुग्ध हो पान कर रहे है। जो लड रहे हैं, उनकी आखो मे भी बहुत चमक मालूम हो रही है। कोई पाशविक आनद जरूर उनकी आखो और गतिविधियो मे प्रवाहित हो रहा है।

जिब्रान ने लिखा है "एक दिन मैंने खेत मे खडे एक काठ के पुतले से पूछा 'क्या तुम इस खेत मे खडे-खडे उकता नही जाते हो?' उसने उत्तर दिया "ओह! पक्षियो को डराने का आनद इतना अधिक है कि समय कब बीत जाता है, कुछ पता

नहीं चलता ।' मैंने क्षण भर सोचकर कहा, 'यह सत्य है, क्योंकि मुझे भी इस आनद का अनुभव है ।' पुतला बोला 'हाँ, वे ही व्यक्ति जिनके शरीर मे घास-फूस भरा है, इस आनद से परिचित हो सकते है !' पर, इस आनद से तो सभी परिचित मालूम होते है । क्या हम सबके भीतर भी घास-फूस ही नही भरा हुआ है और क्या हम भी खेत में खडे झूठे आदमी ही नही है ?"

उस रेत के ढेर पर यही आनद देखकर लौटा हूँ और क्या सारी पृथ्वी के ढेर पर भी यही आनद नही चल रहा है ?

यह अपने से पूछता हूँ और रोता हूँ ।

उस मनुष्य के लिए रोता हू, जो कि पैदा हो सकता है, पर पैदा हुआ नही है ।

जो कि प्रत्येक के भीतर है, पर वैसे ही छिपा है, जैसे राख मे आग छिपी होती है ।

वस्तुत शरीर घास-फूस के ढेर से ज्यादा नही है और जो उस पर समाप्त है, अच्छा था कि वह किसी खेत मे होता तो कम-से-कम फसलो को पक्षियो से बचाने के काम मे तो आ जाता ! मनुष्य की सार्थकता तो उतनी भी नही है !

शरीर से जो अतीत है, उसे जाने बिना कोई मनुष्य नही बनता है ।

आत्मा को जाने बिना कोई मनुष्य नही बनता है ।

मनुष्य की भाति पैदा हो जाना एक बात है, मनुष्य होना बिलकुल दूसरी बात है ।

मनुष्य को तो स्वय को स्वय के भीतर ही जन्म देना होता है । यह वस्त्रो की भाति नही है कि उसे ओढा जा सके ।

मनुष्यता के वस्त्रो को ओढकर कोई मनुष्य नही बनता है, क्योंकि वे उसी समय तक उसे मनुष्य बनाये रखते है, जब तक कि मनुष्यता की वस्तुत कोई आवश्यकता नही पडती है । आवश्यकता आते ही, वे कब गिर जाते है, ज्ञात भी नही हो पाता है ।

बीज जैसे अपने प्राणो को परिवर्तित कर अकुर बनता है, किन्ही वस्त्रो को धारण करके नही, वैसे ही मनुष्य को भी अपनी समस्त प्राण-सत्ता एक नये ही आयाम मे अकुरित करनी होती है, तभी उसका जन्म होता है, और परिवर्तन होता है ।

और तब उसका आनद काँटो को फेकने मे नही, काँटो को उठाने मे और फूलो को बिखेरने मे परिणत हो जाता है ।

वह घडी ही घोषणा करती है कि अब वह घास-फूस नही है—मनुष्य है, देह नही, आत्मा है ।

गुरजिएफ ने कहा है 'इस भ्रम को छोड दें कि प्रत्येक के पास आत्मा है ।' सच ही जो सोया है, उसके पास आत्मा है या नहीं, इससे क्या अतर पडता है ? वही वास्तविक है, जो है ।

आत्मा सबकी सभावना है, पर उसे जो सत्य बनाता है, वही उसे पाता है ।

६१ / चेतना का प्रसरण

मैं छोटे-छोटे तीन शब्दो पर मनुष्य की समग्र चेतना को घूमते हुए देखता हूँ। वे तीन शब्द कौन से है ?

वे शब्द है विवेक, बुद्धि और वृत्ति।

विवेक से श्रेष्ठतम चलते हैं। बुद्धि से वे जो मध्यम है। और वृत्ति चेतना की निम्नतम दशा है।

वृत्ति पाशविक है। बुद्धि मानवीय है। विवेक दिव्य है।

वृत्ति सहज और अधी है। वह निद्रा है। वह अचेतन का जगत् है। वहाँ न शुभ है, न अशुभ। कोई भेद वहाँ नही है। इससे कोई अत सघर्ष भी नही है। वह अधी वासनाओ का सहज प्रवाह है।

बुद्धि न निद्रा है, न जागरण। वह अर्ध-मूर्च्छा है। वह वृत्ति और विवेक के बीच सक्रमण है। वह दहलीज है। उसमे एक अश चैतन्य हो गया है। लेकिन शेष अचेतन है। इससे भेद बोध है। शुभ-अशुभ का जन्म है। वासना भी है, विचार भी है।

विवेक पूर्ण जागृति है। वह शुद्ध चैतन्य है। वह केवल प्रकाश है। वहाँ भी कोई सघर्ष नही है। वह भी सहज है। वह शुभ का, सत् का, सौदर्य का सहज प्रवाह है।

वृत्ति भी सहज, विवेक भी सहज। वृत्ति अधी सहजता, विवेक सजग सहजता।

बुद्धि भर असहज है। उसमे पीछे की ओर वृत्ति है, आगे की ओर विवेक है। उसके शिखर की लौ विवेक की ओर, और आधार की जडे वृत्ति मे है। सतह कुछ, तलहटी कुछ।

यही खिचाव है।

पशु मे डूबने का आकर्षण—प्रभु मे उठने की चुनौती—उसमे दोनो एक ही साथ है।

इस चुनौती से डरकर जो पशु मे डूबने का प्रयास करते है, वे भ्रान्ति मे है।

जो अश चैतन्य हो गया है, वह अब अचेतन नही हो सकता है।

जगत्-व्यवस्था मे पीछे लौटने का कोई मार्ग नही है।

इस चुनौती को मानकर जो सतह पर शुभ-अशुभ का चुनाव करते है, वे भी भ्रान्ति मे है। उस तरह का चुनाव व आचरण-परिवर्तन सहज नही हो सकता है। वह केवल चेष्टित अभिनय है।

और जो चेष्टित है, वह शुभ भी नही है।

प्रश्न सतह पर नहीं है, तलहटी में है।
वहाँ जो सोया है, उसे जगाना है।
अशुभ नहीं, मूर्च्छा छोड़नी है।
अंधेरे में दिया जलाना है।
यह आज कहा है।

९२ / मौन का संगीत

दोपहर की शान्ति। उजली धूप और पौधे सोये-सोये से। एक जामुन की छाया तले दूब पर आ बैठा हूँ। रह-रह कर पत्ते ऊपर गिर रहे हैं—अतिम, पुराने पत्ते मालूम होते हैं। सारे वृक्षो पर नयी पत्तियाँ आ गयी हैं। और नयी पत्तियो के साथ न मालूम कितनी नयी चिडियो और पक्षियो का आगमन हुआ है। उनके गीतो का जैसे कोई अत ही नही है। कितने प्रकार की मधुर ध्वनियाँ इस दोपहर को सगीत दे रही हैं, सुनता हूँ और सुनता रहता हूँ और फिर मैं भी एक अभिनव सगीत-लोक मे चला जाता हूँ।

'स्व' का लोक सगीत का लोक ही है।

यह सगीत प्रत्येक के पास है।

इसे पैदा नही करना होता है।

वह सुन पडे, इसके लिए केवल मौन होना होता है।

चुप होते ही कैसा एक पर्दा उठ जाता है ?

जो सदा से था, वह सुन पडता है और पहली बार ज्ञात होता है कि हम दरिद्र नही हैं।

एक अनन्त सपत्ति का पुनराधिकार मिल जाता है।

फिर कितनी हँसी आती है—जिसे खोजते थे, वह भीतर ही बैठा था।

६३ / कल्पित "मैं" की मृत्यु

रात पानी बरसा है। उसका गीलापन अभी तक है और मिट्टी से सोधी सुगन्ध उठ रही है। सूरज काफी ऊपर उठ आया है और गायो का एक झुड जगल जा रहा है। उनकी काठ की घटिया बडी मधुर बज रही है। मैं थोडी देर तक उन्हे सुनता रहा हूँ। अब गाये दूर निकल गयी है और घटियो की फीकी प्रतिध्वनि ही शेष रह गयी है।

इतने मे कुछ लोग मिलने आये है। पूछ रहे है 'मृत्यु क्या है?'

मैं कहता हूँ जीवन को हम नही जानते है, इसलिए मृत्यु है।

स्व–विस्मरण मृत्यु है, अन्यथा मृत्यु नही है, केवल परिवर्तन है।

'स्व' को न जानने से एक कल्पित 'स्व' हमने निर्मित किया है। यही है हमारा 'मैं'—अहकार।

यह है नही, केवल भासता है।

यह झूठी इकाई ही मृत्यु मे टूटती है।

इसके टूटने से दुख होता है, क्योकि इसी से हमने अपना तादात्म्य स्थापित किया था।

जीवन मे ही इस भ्राति को पहचान लेना मृत्यु से बच जाना है।

जीवन को जान लो और मृत्यु समाप्त हो जाती है।

जो है, वह अमृत है।

उसे जानते ही नित्य, शाश्वत जीवन उपलब्ध हो जाता है।

कल एक सभा मे भी यही कहा है 'स्व-ज्ञान जीवन है। स्व-विस्मरण मृत्यु है।'

एक अध्यापक हैं। धर्म मे उनकी अभिरुचि है। धर्म-ग्रथो के अध्ययन मे जीवन लगाया है। धर्म की बात उठे तो उनके विचार-प्रवाह का अत नही आता है। एक अतहीन फीते की भाति उनके विचार निकलते आते हैं। कितने उद्धरण और कितने सूत्र उन्हे याद है, कहना कठिन है। कोई भी उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहता है। वे एक चलते-फिरते विश्व-कोश है, ऐसी ही उनकी ख्याति है। कई बार मैंने उनके विचार सुने है और मौन रहा हूँ।

एक बार उन्होने मुझसे पूछा 'मेरा उनके सबध मे क्या ख्याल है?' मैंने जो सत्य था वही कहा। कहा कि **ईश्वर के सबध मे विचार इकट्ठा करने में उन्होंने ईश्वर को गँवा दिया है।** वे निश्चित ही चौक गये लगे। फिर बाद मे आये भी। उसी सबध मे पूछने आये थे। आकर कहा कि 'अध्ययन और मनन से ही तो सत्य को पाया जा सकता है। और तो कोई मार्ग भी नही है। ज्ञान ही तो सब-कुछ है।' यह भ्रात विचार कितनो का नही है?

मैं ऐसे सब लोगो से एक ही प्रश्न पूछता हूँ। वही उनसे भी पूछा था कि अध्ययन क्या है और उससे आपके भीतर क्या हो जाता है? क्या कोई नयी दृष्टि का आयाम पैदा हो जाता है? क्या चेतना किसी नये स्तर पर पहुँच जाती है? क्या सत्ता मे कोई क्राति हो जाती है—क्या आप जो है, उससे भिन्न और अन्यथा हो जाते है? या कि आप वही रहते है और केवल कुछ और विचार और सूचनाएँ आपकी स्मृति का अग बन जाती है?

अध्ययन से केवल स्मृति प्रशिक्षित होती है और मन की सतही पर्त पर विचार की धूल जम जाती है। इससे ज्यादा उससे कुछ भी नही होता है, न हो सकता है।

केन्द्र पर उससे कोई परिवर्तन नही होता। चेतना वही की वही रहती है। अनुभूति के आयाम वही के वही रहते है।

सत्य के सबध मे कुछ जानना और सत्य को जानना दोनों बिलकुल भिन्न बाते है।

'सत्य के सबध मे जानना' बुद्धिगत है, 'सत्य को जानना' चेतनागत है।

सत्य को जानने के लिए चेतना की परिपूर्ण जागृति—उसकी अमूर्च्छा आवश्यक है। स्मृति-प्रशिक्षण और तथाकथित ज्ञान से यह नही हो सकता है।

जो स्वय नही जाना गया है, वह ज्ञान नही है।

सत्य के, अज्ञात सत्य के सबध मे जो बौद्धिक जानकारी है, वह ज्ञान आभास है। वह मिथ्या है और सम्यक्‌ज्ञान के मार्ग मे बाधा है।

असलियत में जो अज्ञात है, उसे जानने का ज्ञात से कोई मार्ग नहीं है। वह तो बिलकुल नया है—वह तो ऐसा है, जो पूर्व कभी नही जाना गया है, इसलिए स्मृति उसे देने या उसकी प्रत्यभिज्ञा में भी समर्थ नही है।

स्मृति केवल उसे ही दे सकती है — उसकी ही प्रत्यभिज्ञा भी उससे आ सकती है जो कि पहले भी जाना गया है। वह ज्ञात की ही पुनरुक्ति है।

लेकिन जो नवीन है—एकदम अभिनव, अज्ञात और पूर्व-अपरिचित, उसके आने के लिए तो स्मृति को हट जाना होगा। स्मृति को, समस्त ज्ञात विचारों को हटना होगा, ताकि नये का जन्म हो सके, ताकि 'जो है' वह वैसा ही जाना जा सके जैसा कि है। मनुष्य की समस्त धारणाएँ और पूर्वाग्रह उसके आने के लिए हटने आवश्यक हैं।

विचार, स्मृति और धारणा-शून्य मन ही अमूर्च्छा है, जागृति है।

इसके आने पर ही केन्द्र पर परिवर्तन होता है और सत्य का द्वार खुलता है।

इसके पूर्व सब भटकन है और जीवन अपव्यय है।

९५ / समस्त प्रवृत्तियों में निवृत्ति

एक साधु कल कह रहे थे :

'मैं ससार की ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति छोड चुका हूँ, अब तो प्रवृत्ति मोक्ष की ओर है। यही निवृत्ति है। ससार की ओर प्रवृत्ति मोक्ष के प्रति निवृत्ति है, मोक्ष के प्रति प्रवृत्ति ससार के प्रति निवृत्ति है।'

यह बात दीखने मे कितनी ठीक और समझ-भरी मालूम होती है। कही कोई चूक दिखायी नही देती। बिलकुल बुद्धि और तर्कयुक्त है, पर उतनी ही व्यर्थ भी है। ऐसे ही शब्दो के खेल मे कितने लोग प्रवचना में पडे रहते हैं।

बुद्धि और तर्क आत्मिक जीवन के सबध मे कही भी ले जाते नही मालूम होते है।

मैंने उनसे कहा "आप शब्दो मे उलझ गये हैं। 'ससार की ओर प्रवृत्ति' का कोई अर्थ नही है।"

असल में प्रवृत्ति ही ससार है। वह किस ओर है, इससे कोई अतर नहीं पड़ता है।

बस, उसका होना ही ससार है।

वह धन की ओर हो तो, या वह धर्म की ओर हो तो—उसका स्वरूप एक ही है।

प्रवृत्ति मनुष्य को अपने से बाहर ले जाती है।

वह वासना है, वह फलासक्ति है, वह कुछ होने की तृष्णा और दौड है। 'अ' 'ब' होना चाहता है। यह उसका रूप है।

और जब तक कुछ होने की वासना है, तब तक वह 'जो है' उसका होना नहीं हो पाता है।

इस 'है'' का उद्घाटन ही मोक्ष है।

'मोक्ष' कोई वस्तु नहीं है, जिसे पाना है।

वह वासना का कोई विषय नहीं है।

इससे उसकी ओर प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

वह तो तब है, जब कोई प्रवृत्ति नही होती—मोक्ष की भी नही।

तब जो होता है, उसका नाम मोक्ष है।

इससे मोक्ष को पाना नही है, असल मे पाना छोडना है और मोक्ष पा लिया जाता है।

६६ / असीम को देखने की आंखें : द्रष्टा

मनुष्य जिसे जगत् कहता है, वह सत्ता की सीमा नहीं है। वह केवल मनुष्य की, इन्द्रियों की सीमा है।

इन इन्द्रियों के पार असीम विस्तार है।

इस असीम को इन्द्रियों से कभी भी पूरा-पूरा नहीं पाया जा सकता है।

क्योंकि, इन्द्रियाँ खंड को देखती हैं— अंश को देखती हैं और जो असीम है, अनंत है, वह खंडित और विभाजित नहीं होता है।

जो असीम है, उसे मापने को कोई सीमित साधन काम नहीं दे सकता है।

जो असीम है, वह केवल असीम से ही पकड़ा जा सकता है।

और, जिन्होंने उसे जाना है, उन्होंने इंद्रियों से, बुद्धि से नहीं, स्वयं असीम होकर उसे जाना है।

यह संभव है, **क्योंकि इस क्षुद्र और सीमित दीखते मनुष्य में असीम भी उपस्थित है।**

इन्द्रियों पर उसकी परिसमाप्ति नहीं है।

वह इंद्रियों में है, पर इंद्रियाँ ही नहीं है।

वह इन्द्रियातीत आयाम में भी फैला हुआ है।

वह जितना दीखता है, वहाँ उसकी समाप्ति-सीमा नहीं, शुरुआत है।

वह अदृश्य है।

दृश्य के घेरे में अदृश्य बैठा हुआ है।

इस अदृश्य को वह अपने भीतर पा ले, तो जगत् में समस्त अदृश्यों को पा लेता है।

क्योंकि समस्त भाग और खंड दृश्य के हैं। अदृश्य अखंडित है।

एक और अनेक वहाँ एक ही हैं, और इसीलिए एक को पा लेने से सबको पा लिया जाता है।

कहा है महावीर ने 'जे एगम जाणई से सव्वम् जाणई।'—एक को जाना कि सबको जाना।

वह एक भीतर है।

यह दृश्य नहीं, द्रष्टा है।

इससे इसे पाने का मार्ग आँख नहीं है।

आँख बन्द करना इसका मार्ग है।

आँख बन्द करने का अर्थ है, दृश्य से मुक्ति।

आंख बन्द हो और भीतर दृश्य बहते हों तो आंख खुली ही है।

दृश्य दृष्टि में न हों और आंख खुली हो तो भी आंख बन्द है।

दृश्य न हों और केवल दृष्टि, केवल दर्शन रह जाये तो द्रष्टा प्रकट हो जाता है।

जिस दर्शन से द्रष्टा दीखे, वह सम्यक्‌दर्शन है।

यह दर्शन जब तक नही, तब तक मनुष्य अंधा होता है।

आंखें होते हुए भी आंख नही होती है।

इस दर्शन से चक्षु मिलते हैं—वास्तविक चक्षु, इंद्रियातीत चक्षु।

और सीमाएँ मिट जाती है। रेखाएँ मिट जाती हैं और जो है, आदि अंतहीन विस्तार – ब्रह्म– वह उपलब्ध होता है।

यह उपलब्धि ही मुक्ति है।

क्योंकि, प्रत्येक सीमा बन्धन है, प्रत्येक सीमा परतन्त्रता है।

सीमा से ऊपर होना स्वतंत्र होना है।

६७ / दमन नहीं—प्रेम और ज्ञान

एक प्रवचन कल सुना है। उसका सार था—आत्म-दमन। प्रचलित रूढ़ि यही है। सोचा जाता है कि सबसे प्रेम करना है, पर अपने से घृणा करनी है। स्वय अपने से शत्रुता करनी है, तब कही आत्म-जय होती है। पर यह विचार जितना प्रचलित है, उतना ही गलत भी है। इस मार्ग से व्यक्तित्व द्वैत मे टूट जाता है और आत्महिंसा की शुरुआत होती है। और हिंसा सब कुरूप कर देती है।

मनुष्य को वासनाएँ इस तरह दमन नही करनी हैं, न की जा सकती हैं। यह हिंसा का मार्ग धर्म का मार्ग नही है। इसके परिणाम में ही शरीर को सताने के कितने रूप विकसित हो गये हैं। उनमे दीखती है तपश्चर्या, पर है वस्तुत हिंसा का रस—दमन और प्रतिरोध का सुख। यह तप नही, आत्म-वचना है।

मनुष्य को अपने से लडना नहीं, अपने को जानना है।

पर जानना अपने को प्रेम करने से शुरू होता है।

अपने को सम्यक्‌रूपेण प्रेम करना है।

न तो वासनाओ के पीछे अधा होकर दौडने वाला अपने को प्रेम करता है—न वासनाओ से अधा होकर लडनेवाला अपने को प्रेम करता है।

वे दोनो अधे है।

और पहले अधेपन की प्रतिक्रिया मे दूसरे अधेपन का जन्म हो जाता है।

एक वासनाओ मे अपने को नष्ट करता है, एक उनसे लडकर अपने को नष्ट कर लेता है।

वे दोनो अपने प्रति घृणा से भरे है।

ज्ञान का प्रारभ अपने को प्रेम करने से होता है ?

मै जो भी हूँ, उसे स्वीकार करना है—उसे प्रेम करना है।

और इस स्वीकृति और इस प्रेम में ही वह प्रकाश उपलब्ध होता है, जिससे सहज सब-कुछ परिवर्तित हो जाता है।

इससे ही एक अभिनव सौदर्य का व्यक्तित्व मे उदय होता है—एक सगीत का, और एक शाति का और एक आनद का—जिनके समग्रभूत प्रभाव का नाम आध्यात्मिक जीवन है।

६८ / मत नहीं, अनुभूति

सत्य पर कुछ चर्चा चल रही थी कि मै भी आ गया हूँ। सुनता हूँ जो बात कर रहे है वे अध्ययनशील है। विभिन्न दर्शनो से परिचित है। कितने मत है और कितने विचार है, सब उन्हे ज्ञात मालूम होते है। बुद्धि उनकी भरी हुई है—सत्य से तो नही, सत्य के सबध मे औरो ने जो कहा है उससे। जैसे औरो ने जो कहा है, उस आधार से भी सत्य जाना जा सकता है। सत्य जैसे कोई मत है—विचार है, और कोई बौद्धिक -तार्किक निष्कर्ष है।

विवाद उनका गहरा होता जा रहा है। और अब कोई भी किसी की सुनने की स्थिति मे नही है। प्रत्येक बोल रहा है, पर कोई भी सुन नही रहा है।

मै चुप हूँ। फिर किसी को मेरा स्मरण आता है और वे मेरा मत भी जानना चाहते है।

मेरा तो कोई मत नही है।

मुझे तो दीखता है कि **जहाँ तक मत है, वहाँ तक सत्य नहीं है।**

विचार की जहाँ समाप्ति है, सत्य का वहाँ प्रारम्भ है।

मै क्या कहूँ? वे सभी सुनने को उत्सुक है।

एक कहानी कहता हूँ एक साधु था बोधिधर्म। वह ईसा की छठी सदी में चीन गया था। कुछ वर्ष वहाँ रहा, फिर घर लौटना चाहा और अपने शिष्यो को इकट्ठा किया। वह जानना चाहता था कि सत्य मे उनकी कितनी गति हुई है।

उसके उत्तर मे एक ने कहा 'मेरे मत से सत्य स्वीकार-अस्वीकार के अतीत है—न कहा जा सकता है कि है, न कहा जा सकता है कि नही है, क्योकि ऐसा ही उसका स्वरूप है।'

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरी चमडी है।'

दूसरे ने कहा 'मेरी दृष्टि मे सत्य अतर्दृष्टि है। उसे एक बार पा लिया तो पा लिया, फिर उसका खोना नही है।'

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरा मास है।'

तीसरे ने कहा 'मै मानता हूँ कि पच महाभूत शून्य है और पच स्कध भी अवास्तविक है। यह शून्यता ही सत्य है।'

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरी हड्डियाँ है।'

और अतत वह उठा जो जानता था। उसने गुरु के चरणो मे सिर रख दिया और मौन रहा। वह चुप था और उसकी आँखें शून्य थी।

बोधिधर्म ने कहा 'तेरे पास मेरी मज्जा है, मेरी आत्मा है।'

और यही कहानी मेरा उत्तर है।

६९ / प्रश्न, और फिर मौन प्रतीक्षा

एक मंदिर मे बोलने गया था। बोलने के बाद एक युवक ने कहा . 'क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूँ ? यह प्रश्न मैं बहुतो से पूछ चुका हूँ, पर जो उत्तर मिले उनसे तृप्ति नहीं होती है। समस्त दर्शन कहते है, अपने को जानो। मै भी अपने को जानना चाहता हूँ। यही मेरा प्रश्न है। 'मैं कौन हूँ?' इसका भी उत्तर चाहता हूँ।'

मैंने कहा 'अभी आपने प्रश्न पूछा ही नही है, तो उत्तर कैसे पाते? प्रश्न पूछना उतना आसान नही है।'

उस युवक ने एक क्षण हैरानी से मुझे देखा। प्रकट था कि मेरी बात का अर्थ उसे नही दीखा था। यह बोला 'यह आप क्या कहते है ? मैंने प्रश्न ही नही पूछा है ?'

मैंने कहा 'रात्रि मे आ जाये।' वह रात्रि आया भी। सोचा होगा, मै कोई उत्तर दूगा। उत्तर मैंने दिया भी, पर जो उत्तर दिया वह उसनें नही सोचा था।

वह आया। बैठते ही मैंने प्रकाश बुझवा दिया। बोला 'यह क्या कर रहे है ? क्या उत्तर आप अधेरे मे देते है ?'

मैंने कहा उत्तर नही देता, केवल प्रश्न पूछना सिखाता हूँ।

आत्मिक जीवन और सत्य के सबध मे कोई उत्तर बाहर नही है।

ज्ञान बाह्य तथ्य नही है। वह सूचना नही है।

अत उसे आपमे डाला नही जा सकता है।

जैसे कुएँ से पानी निकालते है, ऐसे ही उसे भी भीतर से ही निकालना होता है।

वह है नित्य।

उसकी सतत उपस्थिति है, केवल अपना घडा उस तक पहुँचाना है।

इस प्रक्रिया मे एक ही बात स्मरणीय है कि घडा खाली हो।

घडा खाली हो तो भरकर लौट आता है और प्राप्ति हो जाती है।

अँधेरे मे थोडा सा समय चुपचाप सरका। वह बोला 'अब मैं क्या करूँ ?' मैंने कहा घडा खाली कर ले, शान्त हो जावे और पूछें, मै कौन हूँ ?'

एक बार, दो बार, तीन बार पूछे—समग्र शक्ति से पूछें, 'मैं कौन हूँ ?'

प्रश्न पूरे व्यक्तित्व मे गूज उठे और तब शात हो जावें और मौन—विचार-शून्य प्रतीक्षा करे।

प्रश्न और फिर खामोश—शून्य प्रतीक्षा ! यही विधि है।

वह थोडी देर बाद बोला 'लेकिन मैं चुप नहीं हो पा रहा हूं। प्रश्न तो पूछ लिया, पर शून्य प्रतीक्षा असभव है और अब मैं देख पा रहा हूं कि मैंने वस्तुत आज तक प्रश्न पूछा ही नहीं था।'

७० / अचेतन मन की सफाई

एक प्रवचन पढ़ रहा हूँ। किन्ही साधु का है। क्रोध छोडने को, मोह छोड़ने को, वासनाए छोडने को कहा है। जैसे ये सब बाते छोडने की हो—किसी ने चाहा और छोड़ दिया।

पढ़-सुनकर ऐसा ही प्रतीत होता है।

इन उपदेशो को सुनकर ज्ञात होता है कि अज्ञान कितना घना है।

मनुष्य के मन के सम्बन्ध में हम कितना कम जानते हैं?

एक बच्चे से एक दिन मैंने कहा कि तुम अपनी बीमारी को छोड क्यो नही देते हो? वह बीमार बच्चा हँसने लगा था और बोला कि क्या बीमारी छोडना मेरे हाथ में है?

प्रत्येक व्यक्ति विकार और बीमारी को छोडना चाहता है, पर विकार की जडो तक जाना आवश्यक है, वे जिस अचेतन गर्त से आते हैं, वहाँ तक जाना आवश्यक है—केवल चेतन मन के सकल्प से उनसे मुक्ति नही पायी जा सकती है।

एक कहानी फ्रायड ने कही कही है। एक ग्रामीण, शहर के किसी होटल मे ठहरा था। रात्रि उसने अपने कमरे मे प्रकाश को बुझाने की बहुत कोशिश की, पर असफल ही रहा। उसने प्रकाश को फूककर बुझाना चाहा, बहुत भाँति फूका, पर प्रकाश था कि अकपित जलता ही गया। उसने सुबह इसकी शिकायत की थी। शिकायत के उत्तर मे उसे ज्ञात हुआ कि वह प्रकाश दिये का नही था, जो फूकने से बुझ जाता—वह प्रकाश तो विद्युत् का था।

और मैं कहता हूँ कि **मनुष्य की विकारों को भी फूँककर बुझाने की विधि गलत है।**

वे मिट्टी के दिये नही है, विद्युत् के दिये हैं।

उन्हें बुझाने की विधि अचेतन मे छिपी है।

चेतन के सब सकल्प फूकने की भाँति व्यर्थ है।

केवल अचेतन में योग के माध्यम से उतरकर ही उनकी जडें तोडी जा सकती हैं।

७१ / "स्व" में होना

टिक . टिक टिक घड़ी फिर से चलनी शुरू हो गयी है। वह अपने मे तो चलती ही थी, मेरे लिए बद हो गयी थी या ठीक हो कि कहूँ कि मैं ही वहाँ के प्रति बद हो गया था, जहाँ कि उसका चलना है।

एक दूसरे समय मे चला गया था।

आँखे बद किये बैठा था और भीतर देखता था।

देखता रहा—काल का एक और ही क्रम था।

और फिर काल-क्रम ही टूट गया था।

समय के बाहर खिसक आने में कैसा आनन्द है!

चित्त पर चित्र बद हो जाते हैं। उनका होना ही काल है।

वह मिटे कि काल मिटा और फिर शुद्ध वर्तमान ही रह जाता है।

वर्तमान, कहने को समय का अग है। वस्तुत, वह काल-क्रम के बाहर है, अतीत है।

उसमे होना 'स्व' में होना है।

उस जगत् से अब लौटा हूँ। सब कितना शांत है।

दूर किसी पक्षी का गीत चल रहा है, पडोस में कोई बच्चा रोता है और एक मुर्गा बोल रहा है।

ओह? जीना कितना आनन्दप्रद है!

और अब मै जानता हूँ कि मृत्यु भी आनद है।

क्योकि, जीवन उसमे भी समाप्त नही होता है।

वह जीवन की एक स्थिति है।

जीवन उसके पूर्व भी है और उसके पश्चात् भी है।

ईश्वर क्या है ?

यह प्रश्न कितनो के मन मे नही है !

कल एक युवक पूछ रहे थे ।

और यह बात ऐसे पूछी जाती है जैसे कि ईश्वर कोई वस्तु है, खोजने वाले से अलग और भिन्न और जैसे उसे अन्य वस्तुओ की भाँति पाया जा सकता है ।

ईश्वर को पाने की बात ही व्यर्थ है और उसे समझने की भी ।

क्योंकि, वह मेरे आरपार है ।

मै उसमें हूँ ।

और ठीक से कहे, तो 'मै' हूँ ही नही ।

केवल वही है ।

ईश्वर 'जो है' उसका नाम है । वह सत्ता के भीतर 'कुछ' नहीं है; स्वयं सत्ता है ।

उसका अस्तित्व भी नही है, वरन् अस्तित्व ही उसमे है ।

वह 'होने' का, अस्तित्व का, अनाम का नाम है ।

इससे उसे खोजा नही जाता है, क्योकि मै भी उसी मे हूँ ।

उसमें तो खोया जाता है और खोते ही उसका पाना है

एक कथा है । एक मछली सागर का नाम सुनते-सुनते थक गयी थी । एक दिन उसने मछलियो की रानी से पूछा —' मै सदा से सागर का नाम सुनती आयी हूँ, पर यह सागर है क्या ? और कहाँ है ? उस रानी ने कहा 'सागर मे ही तुम्हारा जन्म है, जीवन है और जगत् है । सागर ही तुम्हारी सत्ता है । सागर ही तुम मे है और तुम्हारे बाहर है । सागर से तुम बनी हो और सागर मे ही तुम्हारा अंत है । सागर तुम्हे प्रतिक्षण घेरे हुए है ।'

ईश्वर प्रत्येक को प्रतिक्षण घेरे हुए है ।

पर हम मूर्च्छित है, उससे उसके दर्शन नही है ।

मूर्च्छा जगत् है, ससार है । अमूर्च्छा ईश्वर है ।

एक स्वामी आये थे। वर्षों से सन्यासी हैं। मैंने पूछा "सन्यास क्यो लिया ?"

बोले, "शाति चाहता हूँ।"

सोचता हूँ कि क्या शाति भी चाही जा सकती है ?

क्या 'चाहने' और 'शाति' मे विरोध नही है ?

उनसे यह कहा भी।

कुछ हैरान-से हो गये थे। बोले "फिर क्या करे ?"

मैं हँसने लगा। कहा, "क्या करने मे भी चाह छिपी नहीं बैठी है ?"

प्रश्न कुछ करने का नहीं है।

शाति के लिए कुछ भी नही किया जा सकता है।

वह चाह का अग नही है।

उसे चाहना व्यर्थ है।

असल मे अशाति को समझना आवश्यक है।

अशाति क्या है, यह जानना है—शास्त्रो से नही, स्वय से।

शास्त्रो को जानने से ही शाति की चाह पैदा होती है और तब 'क्या करने' का प्रश्न उठता है।

उन स्वामी ने कहा "अशाति वासना के कारण है—चाह के कारण है। तृष्णा न हो जाये तो शाति है।"

मैंने कहा यह उत्तर शास्त्र से है, स्वय से नही—अन्यथा शाति चाहता हूँ, ऐसा कहना सभव न होता।

तृष्णा ही अशाति है—चाह ही अशांति है तो शांति को कैसे चाहा जा सकता है ?

अशाति को जानें, स्वानुभव से उसके प्रति जागें—निर्दोष, निष्पक्ष मन से उसे समझें।

यह समझ अशाति की जडो को सामने ला देगी।

अशाति का मूल वासना है, यह दीखेगा।

और यह दीखना ही अशाति का विसर्जन बन जाता है।

अशांति का ज्ञान ही उसकी मृत्यु है।

उसका जीवन अंधेरे में और अबोधपन में ही सभव है।

ज्ञान का प्रकाश आते ही उसकी समाप्ति है।

अशाति के विसर्जन पर जो बच रहता है, वह शांति है।

शांति अशांति के विपरीत नही चाही जाती है।

वह उसकी विरोधी नही है।

वह है उसका न हो जाना।

इसलिए शांति को नहीं खोजना है, केवल अशांति को जानना है।

सीखा हुआ शास्त्रज्ञान, इस ज्ञान में बाधा बन जाता है।

क्योंकि, बँधे-बँधाये उत्तर स्वानुभव के पूर्व ही उधार निष्कर्षों से चित्त को भर देते हैं।

इन उधार निष्कर्षों से कोई परिवर्तन नही होता है।

स्वानुभूति ही मार्ग है।

प्रत्येक व्यक्ति को आत्मिक जीवन मे उधार ज्ञान के बोझ को उतार कर चलना होता है।

७४ / सत्य के राज्य से बहिष्कृत मनुष्य

मनुष्य के साथ क्या हो गया है ?

मैं सुबह उठता हूँ। देखता हूँ गिलहरियो को दौड़ते, देखता हूँ सूरज की किरणो मे फूलो को खिलते, देखता हूँ सगीत से भरी प्रकृति को। रात्रि सोता हूँ, देखता हूँ तारो से झरते मौन को, देखता हूँ सारी सृष्टि पर छा गयी आनद-निद्रा को। और फिर, अपने से पूछने लगता हूँ कि मनुष्य को क्या हो गया है ?

सब कुछ आनद से तरंगित है, केवल मनुष्य को छोड़कर।

सब-कुछ सगीत से आदोलित है, केवल मनुष्य को छोड़कर।

सब दिव्य शाति मे विराजमान है, केवल मनुष्य को छोड़कर।

क्या मनुष्य इस सबका भागीदार नही है ? क्या मनुष्य कुछ पराया है ? अजनबी है ?

यह परायापन अपने हाथो लाया गया है।

यह टूट अपने हाथो पैदा की गयी है।

स्मरण आती है बाइबल की एक पुरानी कथा। मनुष्य 'ज्ञान का फल' खाकर, आनद के राज्य से बहिष्कृत हो गया है। यह कथा कितनी सत्य है।

ज्ञान ने, बुद्धि ने, मन ने मनुष्य को जीवन से तोड़ दिया है। वह सत्ता में होकर सत्ता के बाहर हो गया है।

ज्ञान को छोड़ते ही, मन से पीछे हटते ही, एक नये लोक का उदय होता है। उसमे हम प्रकृति से एक हो जाते है।

कुछ अलग नही होता है, कुछ भिन्न नही होता है। सब एक शाति के सगीत मे स्पदित होने लगता है।

यह अनुभूति ही 'ईश्वर' है।

ईश्वर कोई व्यक्ति नही है।

ईश्वर की कोई अनुभूति नही होती है, वरन् एक अनुभूति का नाम ही ईश्वर है।

'उसका' कोई साक्षात् नहीं है, वरन् एक साक्षात् का ही वह नाम है।

इस साक्षात् में मनुष्य स्वस्थ हो जाता है।

इस अनुभूति मे वह अपने घर आ जाता है।

इस प्रकाश में वह फूलो और पत्तियो के सहज-स्फूर्त आनद का साझीदार हो जाता है।

इसमें एक ओर से वह मिट जाता है और दूसरी ओर से सत्ता को पा लेता है।

यह उसकी मृत्यु भी है और उसका जीवन भी है।

७५ / खोज और खोजी का विसर्जन

कोई पूछता था आत्मा को कैसे पाया जाय ? ब्रह्म-उपलब्धि कैसे सम्भव है ?

आत्मा के पाने की बात ही मेरे देखे गलत है।

वह प्राप्तव्य नही है। वह तो नित्य प्राप्त है।

वह कोई वस्तु नही, जिसे लाना है। वह कोई लक्ष्य नही, जिसको साधना है। वह भविष्य मे नही है कि उस तक पहुँचना है।

वह है। 'है' का ही वह नाम है।

वह वर्तमान है—नित्य वर्तमान। उसमे अतीत और भविष्य नही है। उसमे 'होना' नही है।

उसे न खोना सभव है और न पाने की बात ही सार्थक है।

वह शुद्ध नित्य अस्तित्व है।

फिर खोना किस स्तर पर हो गया है या खोने का आभास और पाने की प्यास कहाँ आ गयी है ?

'मै' को समझ ले तो जो आत्मा खोयी नही जा सकती है, उसका खोना समझ में आ सकता है।

'मै' आत्मा नही है। न 'स्व' आत्मा है, न 'पर' आत्मा है।

यह द्वैत, वैचारिक है। यह द्वैत मन में है।

मन आभास सत्ता है। वह कभी वर्तमान मे नही होता है। वह या तो अतीत है या भविष्य है।

न अतीत की सत्ता है, न भविष्य की। एक न हो गया है, एक अभी हुआ नही है। एक स्मृति में है, एक कल्पना मे है।

सत्ता मे दोनो नही है।

इस असत्ता से 'मै' का जन्म होता है।

'मै' विचार की उत्पत्ति है। काल भी विचार की उत्पत्ति है।

विचार के कारण, 'मै' के कारण, आत्मा आवरण मे है।

वह है, पर खोयी मालूम होती है।

फिर यही 'मै', यही विचार-प्रवाह इस तथाकथित खोयी आत्मा को खोजता चलता है।

वह खोज असभव है, क्योंकि इस खोज से 'मै' और पुष्ट होता है—सबल होता है।

'मैं' के द्वारा आत्मा को खोजना स्वप्न के द्वारा जागृति को खोजने जैसा है ।
'मैं' के द्वारा नहीं, 'मैं' के विसर्जन से उसका पाना है ।
स्वप्न जाते ही जागृति है, 'मैं' के जाते ही आत्मा है ।
आत्मा शून्यता है, क्योंकि पूर्णता है ।
उसमें 'स्व' 'पर' नही है ।
वह अद्वैत है ।
वह कालातीत है ।
विचार के, मन के जाते ही जाना जाता है कि उसे कभी खोया नही था ।
इसलिए, उसे खोजना नही है ।
खोज छोडनी है और खोजने वाले को छोडना है ।
खोज और खोजी के मिटते ही खोज पूरी हो जाती है ।
'मैं' को खोकर उसे पा लिया जाता है ।

७६ / साधुता का अर्थ

साधुता क्या है?

यह प्रश्न अनेको के मन में है।

वस्त्र और बाह्य रूप से साधुता का सबध होता तो यह प्रश्न उठता ही नही।

निश्चित ही साधुता बाह्य सत्य नही है, कुछ आतरिक सत्य है।

यह आतरिक सत्य क्या है?

साधुता अपने में होना है

साधारणत मनुष्य अपने से बाहर है।

एक क्षण भी वह अपने मे नही है।

सबके साथ है, पर अपने साथ नही है।

यह स्व से अलगाव ही असाधुता है।

स्व मे लौटना—स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना, स्वस्थ होना साधुता है।

आध्यात्मिक अस्वास्थ्य असाधुता है, स्वास्थ्य साधुता है।

मैं बाहर हूँ तो सोया हूँ। बाह्य 'पर' है, मूर्च्छा है। 'पर' पकडे हुए है। 'पर' ही ध्यान में है।

'स्व' ध्यान के बाहर है। यही निद्रा है।

महावीर ने कहा है, 'सुत्ता अमुणी'—जो सोता है, सो अमुनि है।

इस 'पर' की परतत्रता से 'स्व' की स्वतत्रता मे जागना साधु होना है।

यह साधुता पहचानी कैसे जाती है?

यह साधुता शांति से, आनन्द, से, सम्यकत्व से पहचानी जाती है।

एक साधु था, सत फ्रासिस। वह अपने शिष्य लियो के साथ यात्रा पर था। वे सेंट मेरिनो जा रहे थे। राह मे आँधी-वर्षा आयी। वे भीग गये और कीचड से लथपथ हो गये।

रात घिर आयी थी और दिन भर की भूख और थकान ने उन्हे पकड लिया था। गाँव अब भी दूर था और आधी रात के पूर्व पहुँचना सभव नही था। तभी फ्रासिस ने कहा, "लियो, वास्तविक साधु कौन है? वह नही जो अधो को आँखें दे सकता है, बीमारो को स्वास्थ्य दे सकता है और मृतो को भी जिला सकता है। वह वास्तविक साधु नही है।"

थोडी देर सन्नाटा रहा और फिर फ्रासिस ने कहा, "लियो, वास्तविक साधु वह भी नही है जो पशुओ और पौधो और पत्थरो की भी भाषा समझ ले। सारे जगत् का ज्ञान भी जिसे उपलब्ध हो, वह भी वास्तविक साधु नही है।"

फिर थोडी देर सन्नाटा रहा। वे दोनो आँधी-पानी और अंधेरे मे चलते रहे। सेंट मेरिनो के गाँव के दिये दिखायी पडने लगे थे। संत फ्रांसिस ने फिर कहा, "और वह भी वास्तविक साधु नही है जिसने अपना सब-कुछ त्याग दिया है।"

अब लियो से रहा न जा सका। उसने पूछा, "फिर वास्तविक साधु कौन है ?" संत फ्रांसिस ने कहा था "हम मेरिनो पहुँचने को है। सराय के बाहर, द्वार को हम खटखटायेंगे। द्वारपाल पूछेगा, 'कौन हो ?' और हम कहेंगे कि तुम्हारे ही दो बंधु—दो साधु, और यदि वह कहे, 'भिखारियो, भिखमंगो, मुफ्तखोरो यहाँ से भाग जाओ, यहाँ तुम्हारे लिए कोई स्थान नही है' और द्वार बंद कर ले। हम भूखे, थके और कीचड से भिडे आधी रात मे बाहर खडे रहें और फिर द्वार खटखटाये। वह अब की बार बाहर निकल कर लकडी से हम पर चोट करे और कहे, बदमाशों, हमे परेशान मत करो। और यदि हमारे भीतर कुछ भी न हो, वहाँ सब शांत और शून्य बना रहे और उस द्वारपाल में भी हमें प्रभु दीखता रहे तो यही वास्तविक साधुता है।"

निश्चय ही सब परिस्थितियों में अखंडित शांति, सरलता और समता को उपलब्ध कर लेना ही साधुता है।

७७ / साक्षी चैतन्य से मन के भ्रम का टूटना

एक युवक ने कल रात्रि पूछा था "मैं अपने मन से लड रहा हूँ, पर शांति उपलब्ध नहीं होती है। मैं क्या करूँ मन के साथ कि शांति पा सकूं?"

मैंने कहा "अंधेरे के साथ कोई कुछ नहीं कर सकता। वह है ही नही। वह केवल प्रकाश का न होना है। इसलिए उससे लडना अज्ञान है। ऐसा ही मन है। वह भी नही है, उसकी भी कोई स्व सत्ता नहीं है। वह आत्म-बोध का अभाव है, ध्यान का अभाव है। इसलिए उसके साथ भी सीधे कुछ नही किया जा सकता।

अंधेरा हटाना हो तो प्रकाश लाना होता है। और मन को हटाना हो तो ध्यान लाना होता है। मन को नियन्त्रित नही करना है, वरन् जानना है कि वह है ही नही। यह जानते ही उससे मुक्ति हो जाती है।"

उसने पूछा "यह जानना कैसे हो?"

यह जानना साक्षी चैतन्य से होता है।

मन के साक्षी बने। जो है, उसके साक्षी बने।

कैसा होना चाहिए, इसकी चिंता छोड दें।

जो है, जैसा है, उसके प्रति जागें, जागरूक हो।

कोई निर्णय न लें, कोई नियन्त्रण न करे, किसी संघर्ष में न पड़ें।

बस, मौन होकर देखें।

देखना ही, यह साक्षी होना ही मुक्ति बन जाता है।

साक्षी बनते ही चेतना दृश्य को छोड द्रष्टा पर स्थिर हो जाती है।

इस स्थिति में अकंप प्रज्ञा की ज्योति उपलब्ध होती है और यही ज्योति मुक्ति है।

७८ / चेतना के दर्पण पर वासना की धूल का परदा

एक कोने मे पड़ा हुआ बहुत दिनो का दर्पण मिला है। धूल ने उसे पूरा का पूरा छिपा रखा है। दिखता नही है कि वह अब भी दर्पण है और प्रतिबिम्बो को पकड़ने मे समर्थ होगा। धूल सब-कुछ हो गयी है। और दर्पण न-कुछ हो गया है। प्रकटत धूल ही है और दर्पण नही है।

पर क्या सच ही धूल मे छिपकर दर्पण नष्ट हुआ है ? दर्पण अब भी दर्पण है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नही हुआ है। धूल ऊपर है और दर्पण में नहीं है। धूल एक पर्दा बन गयी है। पर पर्दा केवल आवेष्ठित करता है, नष्ट नहीं। और इस पर्दे को हटाते ही जो है, वह पुन प्रकट हो जाता है।

एक व्यक्ति से यह कहा है कि मनुष्य की चेतना भी इस दर्पण की भाँति ही है। वासना की धूल है उस पर। विकारो का पर्दा है उस पर। विचारो की पर्तें हैं उस पर। पर चेतना के स्वरूप मे इससे कुछ भी नही हुआ है।

वह वही है। वह सदा वही है। पर्दा हो या न हो, उसमें कोई परिवर्तन नही है।

सब पर्दे ऊपर हैं, इसलिए उन्हे खीच देना और अलग कर देना कठिन नही है।

दर्पण पर से धूल झाड़ने से ज्यादा कठिन चेतना पर से धूल को झाड़ देना नहीं है।

आत्मा को पाना आसान है, क्योकि बीच मे धूल के एक झीने पर्दे के अतिरिक्त और कोई बाधा नही है।

और पर्दे के हटते ही ज्ञात होता है कि आत्मा ही परमात्मा है।

७९ / अचेतन मन के फिल्मों की समाप्ति

एक चित्र देखकर लौटा हूँ। पर्दे पर प्रक्षेपित विद्युत्-चित्र कितना मोह लेते हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है। जहाँ कुछ भी नही है, वहाँ सब-कुछ हो जाता है।

दर्शको को देखता था, लगता था कि वे अपने को भूल गये है। वे अब नही हैं और केवल विद्युत्चित्रो का प्रवाह ही सब-कुछ है।

एक कोरा पर्दा सामने है और पार्श्व से चित्रो का प्रक्षेपण हो रहा है। जो देख रहे है, उनकी दृष्टि सामने है और पीछे का किसी को कोई ध्यान नही है।

इस तरह लीला को जन्म मिलता है।

मनुष्य के भीतर और मनुष्य के बाहर भी यही होता है।

एक प्रक्षेप-यत्र मनुष्य के मन की पार्श्व-भूमि में है।

मनोविज्ञान इस पार्श्व को अचेतन कहता है।

इस अचेतन में संग्रहीत वृत्तियां, वासनाएँ, सस्कार चित्त के पर्दे पर प्रक्षेपित होते रहते है।

यह चित्त-वृत्तियो का प्रवाह प्रतिक्षण बिना विराम चलता रहता है।

चेतना दर्शक है, साक्षी है—वह इन वृत्ति-चित्रो के प्रवाह मे अपने को भूल जाती है।

यह विस्मरण अज्ञान है।

यह अज्ञान मूल है ससार का, भ्रमण का, जन्म-जन्म के चक्र का।

इस अज्ञान से जागना चित्त-वृत्तियो के निरोध में होता है।

चित्त जब वृत्ति-शून्य होता है, पर्दे पर जब चित्रों का प्रवाह रुकता है, तब ही दर्शक को अपनी याद आती है और वह अपने गृह को लौटता है।

चित्त-वृत्तियो के इस निरोध को ही पतजलि ने योग कहा है।

यह सधते ही सब सध जाता है।

८० / जागना और साक्षी बनना ही धर्म है

कल एक मदिर के द्वार पर खडा था। धूप जल रही थी और वातावरण सुगधित था। फिर पूजा की घटी बजने लगी और आरती का दीप मूर्ति के सामने घूमने लगा। कुछ भक्तजन इकट्ठे थे। वह सब आयोजन सुन्दर था और एक सुखद तन्द्रा पैदा करता था। लेकिन उस आयोजन से धर्म का कोई सबध नही है।

किसी मदिर, किसी मस्जिद, किसी गिरजे का धर्म से कोई सबध नही है। किसी पूजा, किसी अर्चना का धर्म से कोई नाता नही है और सब मूर्तियाँ पत्थर है और सब प्रार्थनाएँ दीवारो से की गयी बातचीत के अतिरिक्त कुछ नही हैं।

लेकिन इन सबसे सुख मिलता मालूम होता है।

और वही खतरा है।

क्योकि, उसी के कारण प्रवचना प्रारम्भ होती और प्रगाढ होती है।

उस सुख के भ्रम मे ही सत्य होने का आभास पैदा होता है।

सुख मिलता है, मूर्च्छा से—अपने को भूल जाने और स्व की वास्तविकता से पलायन करने से।

मादक द्रव्यो का सुख भी ऐसे ही पलायन से मिलता है।

धर्म के नाम पर मूर्च्छा के सब प्रयोग भी मादक द्रव्यो जैसा ही मिथ्या सुख लाते हैं।

सुख धर्म नहीं, क्योंकि वह दु ख का अत नहीं, केवल विस्मृति है।

फिर धर्म क्या है?

धर्म स्व से पलायन नहीं, स्व के प्रति जागरण है।

इस जागरण का किसी बाह्य आयोजन से कोई वास्ता नही है।

यह तो भीतर चलने और चैतन्य को उपलब्ध करने से सबधित है।

मैं जागू और साक्षी बनू—जो है, उसके प्रति चेतन बनू—बस, धर्म इतने से ही सबधित है।

धर्म अमूर्च्छा है।

और अमूर्च्छा आनन्द है।

८१ / भीतर शून्यता और बाहर सरलता

एक कहानी है। एक अविवाहित युवती को पुत्र उत्पन्न हो गया था। उसके प्रियजन घबरा गये थे। उन्होंने उससे गर्भ का कारण पूछा। वह बोली कि गाँव के बाहर ठहरे हुए साधु ने उसका शील भग किया है। उसके क्रोधित प्रियजनो ने साधु को घेरकर बहुत बुरा-भला कहा। उस साधु ने सब शाति से सुना और कहा, 'ऐसा है क्या ?' वह केवल इतना ही बोला था और बच्चे के पालन का भार उसने अपने ऊपर ले लिया था। पर घर लौटकर उस लडकी को पश्चात्ताप हुआ और उसने यथार्थ बात कह दी। उसने बता दिया कि उसने साधु को तो इसके पूर्व कभी देखा ही नही था, लडके के असली पिता को बचाने के लिए ही उसने झूठी बात कह दी थी। उसके परिवार के लोग बहुत दुखी हुए। उन्होने जाकर साधु से क्षमा माँगी। साधु ने सारी बातें शाति से सुनी और कहा, 'ऐसा है क्या ?' ('It is so ?')

जीवन मे शाति आ जाये तो यह सारा जगत् और जीवन एक अभिनय से ज्यादा कुछ भी नही रह जाता है।

मै केवल एक अभिनेता हो जाता हूँ।

बाहर कहानी चलती जाती है और भीतर शून्य घिरा रहता है।

इस स्थिति को पाकर ही ससार की दासता से मुक्ति होती है।

मै दास हूँ, क्योकि जो भी बाहर से आता है, उससे उद्विग्न होता हूँ। कोई भी बाहर से मेरे भीतर को बदल सकता है। मै इस भाँति परतन्त्र हूँ।

बाहर से मुक्ति हो जाये—**बाहर कुछ भी हो, पर मै भीतर वही रह सकूँ जो कि हूँ, तो स्व का और स्वतन्त्रता का प्रारम्भ होता है ?**

यह मुक्ति, शून्य उपलब्धि से शुरू होती है।

शून्य होना है। शून्य अनुभव करना है।

उठते-बैठते, चलते-सोते जानना है कि मै शून्य हूँ और इसका स्मरण रखना है।

शून्य को स्मरण रखते-रखते शून्य होना हो जाता है।

स्वाँस-स्वाँस मे शून्य भर जाता है।

भीतर शून्य आता है, तो बाहर सरलता आ जाती है।

शून्यता ही साधुता है

८२ / दृश्यों से मुक्ति में चैतन्य की उपलब्धि

आँख बद किये बैठा था।

आँखो से देखते-देखते मनुष्य आँखें बन्द करके देखना ही भूलता जा रहा है।

जो आँख से दीखता है, वह उसके समक्ष कुछ भी नही है, जो आँख बन्द करके दीख आता है।

आँख का छोटा-सा पर्दा दो दुनियाओ को अलग करता और जोडता है।

मै आँख बन्द किये बैठा था कि एक व्यक्ति आये और पूछने लगे कि मै क्या कर रहा था ? और जब मैंने कहा कि कुछ देख रहा था, तो वे हैरान-से हो गये। शायद उन्होने सोचा होगा कि आँख बन्द करके देखना भी क्या देखना कहा जा सकता है ?

आँख खोलता हूँ, तो सीमा में आ जाता हूँ।

आँख बंद करता हूँ, तो असीम के द्वार खुल जाते है।

इस ओर दृश्य दीखते है, उस ओर द्रष्टा दिखायी देता है।

एक फकीर स्त्री थी—राबिया। एक सुन्दर प्रभात मे किसी ने उससे कहा था 'राबिया, भीतर झोपडे मे क्या कर रही हो ? यहाँ आओ, बाहर देखो, प्रभु ने कैसे मनोरम प्रभात को जन्म दिया है।' राबिया ने भीतर से ही कहा था 'तुम बाहर जिस प्रभात को देख रहे हो, मै भीतर उसके ही बनाने वाले को देख रही हूँ। मित्र, तुम ही भीतर आ जाओ और जो यहाँ है, उस सौंदर्य के आगे बाहर के किसी सौन्दर्य का कोई अर्थ नही है।'

पर कितने हैं, जो आँख बन्द करके भी बाहर ही नही बने रहेगे ?

अकेले आँख बन्द करने से ही आँख बन्द नही होती है।

आँख बन्द है, पर चित्र बाहर के ही बन जाते है। पलक बन्द है, पर दृश्य बाहर के ही उतरे जा रहे हैं।

यह आँख का बन्द होना नही है।

आँख के बन्द होने का अर्थ है, शून्यता—स्वप्नो से, विचारो से मुक्ति।

विचार और दृश्य के विलीन होने से आँख बन्द होती है।

और फिर जो प्रकट होता है, वह शाश्वत चैतन्य है।

वही है सत्, वही है चित्, वही है आनन्द।

इन आँखो का सब खेल है।

आँख बदली और सब बदल जाता है।

८३ / आत्म-ज्ञान का बीज, वृक्ष, फूल और फल

एक साल हुआ, तब कुछ बीज बोये थे। अब उनमे फूल आ गये है। कितना चाहा कि फूल सीधे आ जायँ, पर फूल सीधे नही आते हैं। फूल लाना हो तो बीज बोने पडते हैं, पौधा सभालना पडता है और तब अत मे प्रतीक्षित का दर्शन होता है।

यह प्रक्रिया फूलो के सम्बन्ध मे ही नही, जीवन के सबध मे भी सत्य है।

अहिंसा, अपरिग्रह, अचौर्य, सत्य, ब्रह्मचर्य—ये सब जीवन-साधना के फूल है। कोई इन्हे सीधे नही ला सकता। इन्हे लाने के लिए आत्म-ज्ञान के बीज बोने पडते हैं। उसके आते ही ये सब अपने आप चले आते हैं।

आत्म-ज्ञान मूल है, शेष सब उसके परिणाम हैं।

जीवन के बाह्य आचार का कुरूप होना, आतरिक सड़न का प्रतीक होता है और उसका सौन्दर्य आतरिक जीवन और सगीत की प्रतिध्वनि होता है।

इससे लक्षणो को बदलने और परिवर्तन करने से कुछ भी नही हो सकता है। मूलत जहाँ विकार की जडे है, वही बदलाहट करनी है।

आत्म-अज्ञान विकार की जड है।

'मै कौन हूँ' यह जानना है।

यह जानते ही अभय और अद्वैत की उपलब्धि होती है।

अद्वैत बोध, यह बोध कि जो मै हूँ, वही दूसरा भी है—समस्त हिंसा को जड से नष्ट कर देना है और परिणाम मे आती है अहिंसा।

पर को पर जानना हिंसा है।

पर मे स्व के दर्शन अहिंसा है।

और अहिंसा है धर्म की आत्मा।

८४ / मन के बंद झरोखे, खिड़कियां और द्वार तथा घुटन

रात्रि पानी बरसा और मैं भीतर आ गया था। खिडकियाँ बन्द थी और बडी घुटन मालूम होने लगी थी। फिर खिडकियाँ खोली और हवा के नये-नहाये झोको से ताजगी बही—और फिर मै कब सो गया, पता नही।

सुबह एक सज्जन आये थे। उन्हे देखकर रात की घुटन याद आ गयी थी। लगा जैसे उनके मन की सारी खिडकियाँ, सारे द्वार बन्द हैं। एक भी झरोखा उन्होने अपने भीतर खुला नही छोडा है, जिससे बाहर की ताजी हवाएँ, ताजी रोशनी भीतर पहुँच सके। और मुझे सब बन्द दीखने लगा। मैं उनसे बाते कर रहा था और मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कि मै दीवारो से बातें कर रहा हूँ। फिर मैने सोचा, अधिक लोग ऐसे ही बद हैं और जीवन की ताजगी और सौंदर्य तथा नयेपन से वंचित हैं।

मनुष्य अपने ही हाथो अपने को एक कारागार बना लेता है।

इस कैद मे घुटन और कुण्ठा मालूम होती है, पर उसे मूल कारण का—ऊब और घबराहट के मूल स्रोत का—पता नही चलता है।

समस्त जीवन ऐसे ही बीत जाता है।

जो मुक्त गगन मे उडने का आह्लाद ले सकता था, वह एक तोते के पिंजरे में बन्द साँसें तोड देता है।

चित्त की दीवारें तोड़ देने पर खुला आकाश उपलब्ध हो जाता है।

और खुला आकाश ही जीवन है।

यह मुक्ति प्रत्येक पा सकता है।

और यह मुक्ति प्रत्येक को पा लेनी है।

यह मै रोज कह रहा हूँ, पर शायद मेरी बात सब तक पहुँचती नही है।

उनकी दीवारे मजबूत हैं।

पर दीवारे कितनी भी मजबूत क्यो न हो, वे मलत कमजोर और दु खद हैं।

उनके विरोध मे यही आशा की किरण है कि वे दु खद हैं।

और जो दु खद है, वह ज्यादा देर तक टिक नही सकता।

केवल आनन्द ही नित्य हो सकता है।

८५ / अन्तर्दृष्टि और चैतन्य जीवन

धूप मे मंदिरो के कलश चमक रहे हैं। आकाश खुला है और राह पर लोगो की भीड़ बढ़ती जा रही है।

मैं राह चलते लोगो को देखता हूँ, पर न मालूम क्यो ऐसा नही लगता कि वे जीवित हैं।

जीवन का, अस्तित्व का बोध न हो तो किसी को जीवित कैसे कहा जा सकता है?

जीवन आता है और कब व्यय हो जाता है, यह जैसे ज्ञात ही नही हो पाता है।

साधारणत जब मृत्यु की घडियाँ आती हैं, तब जीवन का बोध होता है।

एक कहानी पढी थी। एक व्यक्ति था बिलकुल भुलक्कड। वह भूल ही गया था कि वह जीवित है। फिर एक दिन वह सुबह उठा और उसने पाया कि वह मर गया है, तब उसे ज्ञात हुआ कि वह जीवित भी था। इस कहानी में बहुत सत्य है।

मैं इस कहानी का स्मरण कर रहा हूँ। बहुत हँसी आती है कि मरकर भी किसी ने पाया है कि वह जीवित था, पर हँसी धीरे-धीरे उदासी मे बदल जाती है। यह कैसी दयनीय स्थिति है!

मैं यह सोच ही रहा हूँ कि कुछ लोग आ गये हैं। उन्हे देखता हूँ, उनकी बाते सुनता हूँ, उनकी आँखो मे झाँकता हूँ। जीवन उनमे कही भी नही है। वे तो जैसे छायाओ की तरह हैं।

सारा जगत् छायाओ से भर गया है। अपने ही हाथो अधिक लोग प्रेत-लोक मे रह रहे हैं।

और इन छायाओ के भीतर जीवित आत्म है—जीवन है, लेकिन उन्हे इसका पता ही नही है।

इस छाया-जीवन के भीतर वास्तविक जीवन है और इस प्रेत-जीवन के पार सत्य-जीवन भी है, जिसे अभी और यही पाया जा सकता है।

और, इसे पाने की शर्त कितनी छोटी है!

और, इसे पाने का उपाय कितना सरल है!

कल मैंने कहा है, "दृष्टि को भीतर से चलना है।"

८६ / नास्तिक की तीव्र प्यास और धर्म में प्रवेश

एक युवक ने आकर कहा है, "मै नास्तिक हो गया हूँ।"

मैं उसे देखता हूँ। उसे पहले से जानता हूँ। जीवन-सत्य को जानने की उसकी प्यास तीव्र है। वह किसी भी मूल्य पर सत्य को अनुभव करना चाहता है।

उसमें तीव्र प्रतिभा है और सतही आस्थाएँ उसे तृप्त नही करती है। सस्कार, परपरा और रूढियाँ उसे कुछ भी नही दे पा रही है।

वह सदेहो और शकाओ से घिर गया है। सारे मानसिक सहारे और धारणाएँ खडित हो गयी है और वह उसके एक घने नकार मे डूब गया है।

मै चुप हूँ। वह दुबारा बोला है, "ईश्वर पर से मेरी श्रद्धा हट गयी है। कोई ईश्वर नही है। मै अधार्मिक हो गया हूँ।"

मै उससे कहता हूँ कि यह मत कहो।

नास्तिक होना अधार्मिक होना नही है।

वास्तविक आस्तिकता पाने के लिए नकार मे से गुजरना ही होता है।

वह अधार्मिक होने का नही, वस्तुत धार्मिक होने का प्रारम्भ है।

संस्कारो से, शिक्षण से, विचारो से मिली आस्तिकता कोई आस्तिकता नहीं है।

जो उससे तृप्त है, वह भ्राति में है।

वह विपरीत विचारो मे पलता तो उसका मन विपरीत निर्मित हो सकता था और फिर वह उससे ही तृप्त हो जाता।

मन पर पडे सस्कार परिधि की, सतह की घटना है। वह मृत पर्त है। वह उधार और बासी स्थिति है।

कोई भी सचमुच आत्मिक जीवन के लिए प्यासा व्यक्ति उस काल्पनिक जल से अपनी प्यास नही बुझा सकता है।

और इस अर्थ में वह व्यक्ति धन्यभागी है।

क्योकि वास्तविक जल को पाने की खोज इसी बेबुझी प्यास से प्रारभ होती है।

ईश्वर को धन्यवाद दो कि तुम ईश्वर की धारणा से सहमत नही हो।

क्योकि यह असहमति ईश्वर के सत्य तक तुम्हें ले जा सकती है।

मैं उस युवक के चेहरे पर एक प्रकाश फैलते देखता हूँ। एक शाति और एक आश्वासन उसकी आँखो मे आ गया है।

जाते समय मैं उससे कह रहा हूँ, "इतना स्मरण रखना कि नास्तिकता धार्मिक जीवन की शुरुआत है। वह अत नहीं है।"

वह पृष्ठभूमि है, पर उस पर ही रुक नही जाना है। वह रात्रि है, उसमें ही डूब नही जाना है। उसके बाद ही, उससे ही, सुबह का जन्म होता है।"

८७ / 'मैं' को खोना ही मुक्ति को पाना है

कल रात्रि नगर से दूर एक अमराई में बैठे थे। थोड़ी-सी बदली थी और उनके बीच चाँद निकलता-छिपता जा रहा था। प्रकाश और छाया की इस लीला में कुछ लोग देर तक मौन मेरे पास थे।

कभी-कभी बोलना कितना कठिन हो जाता है। वातावरण में जब एक सगीत घेरे होता है, तब डर लगता है कि कही बोलने से वह टूट न जाय। ऐसा ही कल हुआ।

बहुत रात गये घर लौटे। राह मे कोई कह रहा था कि जीवन मे मौन का अनुभव पहली बार हुआ है। यह सुना था कि मौन अद्भुत आनन्द है, पर जाना इसे आज है। पर आज तो यह अनायास हुआ है, फिर दुबारा यह कैसे होगा ?

मैंने कहा, "जो अनायास हुआ है, वह अनायास ही होता है। प्रयास से वह नहीं आता है।"

प्रयास स्वय अशांति है।

प्रयास का अर्थ कि जो है, उससे कुछ भिन्न चाहा जा रहा है।

यह स्थिति तनाव की है।

तनाव से तनाव ही पैदा होता है।

अशांति में किया गया कुछ भी अशांति ही लाता है।

अशांति शांति में नही बदलती है।

शांति चेतना की एक भिन्न स्थिति है।

जब अशांति नही होती है, तब उसका होना होता है।

कुछ न करे, कोई प्रयास न करे, सब करना छोड दे और केवल देखते रह जाये और फिर पाया जाता है कि एक नयी चेतना, एक नया प्रकाश आहिस्ता-आहिस्ता उतरता चला आ रहा है।

इस नये लोक मे जो पाया जाता है, वही वस्तुत है।

जो है, उसका उद्घाटन आनन्द है, उसका उद्घाटन मुक्ति है।

यह विराट् हमारे क्षुद्र प्रयासो से नही, हमारे 'मैं' से नही, वरन् जब प्रयास नही होते, जब 'मैं' नही होता, तब आता है।

ससार में जो भी पाया जाता है, वह क्रिया से, कर्म से पाया जाता है।

प्रयास वहाँ साधन है। 'मैं' वहाँ केन्द्र है।

प्रत्येक प्राप्ति इसलिए 'मैं' को और मजबूत कर जाती है।

वस्तुत पाने में को 'मैं' मजबूत करने और फैलाने का ही सुख है।

पर यह 'मैं' कभी पूरा नहीं भरता है। यह स्वभाव से दुष्पूर है।
इसलिए सुख अतीत ही होता है, कभी उसे पाया नही जाता है।
इससे जिन्होंने जाना, उन्होंने कहा कि ससार में दु ख है।
ससार में हम जो करते हैं, वही हम मुक्ति के लिए भी करते हैं।
उसे भी पाने में लग जाते हैं और यही भूल हो जाती है।
उसे पाना नहीं है, वरन् अपने खोना है।
अपने को खोते ही उसे पा लिया जाता है।

८८ / धर्म ईश्वर की खोज नहीं, चेतना का विज्ञान है

कल रात्रि देर तक नदी-तट पर था। नदी की धार चाँदी के फीते की भाँति दूर तक चमकती चली गयी है। एक मछुआ डोंगी को खेता हुआ आया था और देर से बोलते हुए जल-पक्षी उसकी आवाज से चुप हो गये थे।

एक मित्र साथ थे। उन्होंने एक भजन गाया था और फिर बात ईश्वर पर चली गयी थी। गीत मे भी ईश्वर की खोज की बात थी। जिन्होने इसे गाया था, उनके जीवन के अनेक वर्ष ईश्वर की तलाश मे ही बीते है। मेरा परिचय उनसे कल ही हुआ था। विज्ञान के स्नातक है और फिर किसी दिन ईश्वर की धुन ने उन्हें पकड लिया था। तब से अनेक वर्ष इसी धुन में गये हैं, पर कुछ उपलब्ध नही हुआ है।

मै भजन को सुनकर चुप था। उनकी आवाज मधुर थी और मन को छूती थी। फिर भजन के पीछे हृदय था और उस कारण गीत जीवित हो उठा था। मेरे मन मे उसकी प्रतिध्वनि गूज रही थी, पर उन्होने इस मौन को तोडकर अनायास पूछा था कि "यह ईश्वर की तलाश कही भ्रम ही तो नही है? पहले मै आशा से भरा था, पर फिर धीरे-धीरे निराश होता गया हूँ।"

मै फिर भी थोडी देर चुप रहा और बाद मे कहा, "ईश्वर की तलाश भ्रम ही है, क्याकि ईश्वर को खोजने का प्रश्न ही नही उठता। **वह सदा ही उपस्थित है। पर हमारे पास, उसे देख सकें, ऐसी आँखें नहीं है, इसलिए असली खोज सम्यक्-दृष्टि को पाने की है।"**

एक अधा आदमी था। वह सूरज को खोजना चाहता था। वह खोज गलत थी। सूरज तो है ही, आँखे खोजनी है। आँखे पाते ही सूरज मिल जाता है।

साधारणत ईश्वर का तलाशी, सीधे ईश्वर को खोजने मे लग जाता है। वह अपनी आँखो का विचार ही नही करता है। यह आधारभूत भूल परिणाम मे निराशा लाती है। मेरा देखना विपरीत है।

मै देखता हूँ कि असली प्रश्न मेरा है, और मेरे परिवर्तन का है।

मै जैसा हूँ, मेरी आँखे जैसी है, वही मेरे ज्ञान की और दर्शन की सीमा है।

मै बदलूं, मेरी आँखें बदलें, मेरी चेतना बदले, तो जो अभी अदृश्य है, वह दृश्य हो जाता है।

और फिर जो अभी हम देख रहे है, उसकी ही गहराई में ईश्वर उपलब्ध हो जाता है।

संसार में ही प्रभु उपलब्ध हो जाता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ, धर्म ईश्वर को पाने का नहीं, वरन् नयी दृष्टि, नयी चेतना पाने का विज्ञान है।

प्रभु तो है ही, हम उसमें ही खड़े हैं, उसमें ही जी रहे हैं।

पर आँखें नहीं हैं, इसलिए सूरज दिखायी नहीं देता है।

सूरज को नहीं, आँखों को खोजना है।

८९ / पांचवां और मूल आर्य सत्य : दुःख के प्रति मूर्छा

गौतम बुद्ध ने चार आर्य-सत्य कहे हैं—दु.ख, दु.ख का कारण, दु ख-निरोध और दु ख-निरोध का मार्ग। जीवन मे दु ख है। दु ख का कारण है। इस दु ख का निरोध हो सकता है और दु ख-निरोध का मार्ग है।

मैं पाँचवाँ आर्य-सत्य भी देखता हूँ। और यह पाँचवाँ इन चारो के पूर्व है। वह है इसलिए ये चारो हैं। वह न हो तो ये चारो भी नही रह सकते हैं।

यह पाँचवाँ या प्रथम आर्य-सत्य क्या है?

वह सत्य है—दु ख के प्रति मूर्च्छा।

दु ख है, पर हम उसके प्रति मूर्च्छित हैं।

इस मूर्च्छा से ही वह हमे दीखता नही है।

इस मूर्च्छा से ही हम उसमे होते हैं, पर वह हमे सतप्त नही करता है।

इस धुधली बेहोशी मे, तन्द्रा मे जीवन बीतना है और जो दु ख था, वह झेल लिया जाता है।

इस मूर्च्छा में, अचेतना में जो है, वह आँख में नहीं आता है और जो नहीं है, उसके स्वप्न चलते रहते हैं।

वर्तमान के प्रति अधापन होता है और भविष्य मे दृष्टि बनी रहती है।

भविष्य के सुखद स्वप्नो के नशे मे वर्तमान का दु ख डूबा रहता है।

इस विधि से दु ख दीखता नही है और उसके पार उठने का प्रश्न भी नही उठता है।

एक कैदी को यदि अपने कारागृह की दीवारो और जजीरो का बोध ही न हो, तो उसमे मुक्ति की आकाक्षा के पैदा होने का प्रश्न ही कहाँ रहता है?

इससे इस सत्य को कि हम दु ख के प्रति मूर्च्छित हैं—जीवन दु ख है, यह सत्य हमारी चेतना मे नही है—इसे मैं प्रथम आर्य-सत्य कहता हूँ। शेष चारो बाद मे आते हैं। दु ख के प्रति मेरे जागते ही उनका दर्शन होता है।

१० / सतत जागरण

मैं उँगलियों पर गिनी जा सकें, इतनी बातें कहता हूँ

१ मन को जानना है, जो इतना निकट है, फिर भी इतना अज्ञात है।

२ मन को बदलना है, जो इतना हठी है, पर परिवर्तित होने को इतना आतुर है।

३ मन को मुक्त करना है, जो पूरा बंधन में है, किन्तु अभी और यहीं मुक्त हो सकता है।

ये तीन बातें भी कहने की हैं, करना तो केवल एक ही काम है। वह है मन को जानना। शेष दो उस एक के होने पर अपने आप हो जाती हैं।

ज्ञान ही बदलाहट है, ज्ञान ही मुक्ति है।

यह कल कहता था कि किसी ने पूछा, "यह जानना कैसे हो?"

यह जानना जागने से होता है।

शरीर और मन दोनों की हमारी क्रियाएँ मूर्च्छित हैं।

प्रत्येक क्रिया के पीछे जागना आवश्यक है।

मैं चल रहा हूँ, मैं बैठा हूँ या मैं लेटा हुआ हूँ, इसके प्रति सम्यक् स्मरण चाहिए।

मैं बैठना चाहता हूँ, इस मनोभाव या इच्छा के प्रति भी जागना है।

चित्त पर क्रोध है या क्रोध नहीं है, इस स्थिति को भी देखना है।

विचार चल रहे हैं या नहीं चल रहे हैं, उनके प्रति भी साक्षी होना है।

यह जागरण दमन से या संघर्ष में नहीं हो सकता है।

कोई निर्णय नहीं लेना है।

सद्-असद् के बीच कोई चुनाव नहीं करना है।

केवल जागना है, बस जागना है।

और जागते ही मन का रहस्य खुल जाता है। मन जान लिया जाता है।

और केवल जानने से परिवर्तन हो जाता है।

और परिपूर्ण जानने से मुक्ति हो जाती है।

इससे मैं कहता हूँ कि मन की बीमारी से मुक्ति आसान है।

क्योंकि यहाँ निदान ही उपचार भी है।

९१ / मृत पांडित्य नहीं, चाहिए जीवंत अनुभूति

दोपहर ढलने को है। आकाश अभी खुला था, फिर जोर की हवाएँ आयी और अब काली बदलियो में वह ढँका जा रहा है।

सूरज छिप गया है, हवाओ में ठडक है।

एक फकीर द्वार पर आया है। उसके हाथ मे एक तोता है। पिंजरा नही है, पर दीखता है कि तोता उडना भूल चुका है। आते ही फकीर नही, तोता ही बोला है, "राम कहो, राम कहो, राम राम राम।" मैंने कहा, "तोता तो अच्छा बोलता है।" फकीर बोला, "महाराज, यह तोता बडा पडित है!" यह सुन मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा, "होना ही चाहिए, क्योकि सभी पडित तोते ही होते है!"

यह मुझे बहुत स्पष्ट दीखता है कि ज्ञान सीखने से नही आता है और जो सीखने मे आता है, वह ज्ञान नही है।

ज्ञान बुद्धि की उपलब्धि नही है। बुद्धि स्मृति है और स्मृति से नहीं, स्मृति के हट जाने से ज्ञान आता है।

जो सीखा जाता है, वह तोता बनाता है। इस तोता-रटन का नाम पाडित्य है।

ज्ञान के मार्ग मे इससे बडी और कोई बाधा नही है।

पांडित्य मृत तथ्यो का सग्रह है। ये तथ्य सब उधार है। अनुभूति में इनकी कोई जड़ें नही होती।

इन मृत तथ्यो से घिरा चित्त, उसके दर्शन नही कर पाता है, जो कि 'है'। ये तथ्य पर्दा बन जाते है।

इस पर्दे को हटाने पर अज्ञान का उद्घाटन होता है। यह दर्शन ही ज्ञान है।

सीखना नही, दर्शन ज्ञान है।

ग्रथ नही, तथ्य नही, सत्य-दृष्टि उस उपलब्धि का मार्ग है।

सत्य दर्शन जब होता है तब पाया जाता है कि ज्ञान तो था ही, केवल उसे देख पाने की दृष्टि हमारे पास नही थी।

और इस दृष्टि को पाडित्य के सग्रह से नही पाया जा सकता था।

इससे आत्म-प्रवचना भर हो सकती थी। और कुछ भी नही।

बिना जाने ही यह अह-तृप्ति हो सकती थी कि मैं जानता हूँ।

इसलिए कहा है कि यह जानना कि 'मैं जानता हूँ,' अज्ञान है। क्यो?

क्योकि, जानने पर पाया जाता है कि मैं हूँ ही नही। केवल ज्ञान है, न ज्ञाता है, न ज्ञेय है।

यह अद्वैत दर्शन तब होता है जब सब छोडकर मैं शून्य हो जाता हूँ।

१२ / साधना का साथी—शरीर

सध्या उतर आयी है और साध्य-कुसुमो की गध उडने लगी है ।

एक कोयल दोपहर भर कूकती रही है और अब चुप हो गयी है । वह गाती थी, तो इतनी खयाल में नही थी, अब मौन क्या हुई है कि खयाल में हो आयी है । मैं उसके फिर से स्वर उठाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ कि इसी बीच एक साधु का आगमन हुआ है । बाल-ब्रह्मचारी हैं—सूखी, कृश, अस्वस्थ-सी देह है । चेहरा बुझा-बुझा और निस्तेज है । आँखो का पानी उड गया है । देख उन्हें बहुत दया आयी है । शरीर पर अनाचार किया है ।

यह मैंने उनसे कहा है । वह तो कुछ चौंक-से गये है । इसे ही त्याग मानते है । अस्वास्थ्य जैसे आध्यात्मिक है, कुरूपता और विकृति जैसे योग है ! असौंदर्य को साधना ही जैसे साधना है ।

काउट कैमरलिग ने कही लिखा है, "स्वास्थ्य अध्यात्म-विरोधी आदर्श है ।" उनकी इस पक्ति मे इसी अज्ञान की गूँज है । यह विचार प्रतिक्रिया-जन्य है ।

कुछ है जो शरीर के पीछे है, शरीर ही उन्हे सब-कुछ है । यह एक अति है, फिर इसकी प्रतिक्रिया से दूसरी अति पैदा होती है ।

पर दोनो ही अतियाँ शरीरवादी है ।

शरीर को न तो उछालते फिरना है, न उसे तोडते फिरना है ।

वह तो कुल जमा आवास है ।

उसका स्वस्थ और स्वच्छ होना आवश्यक है ।

आध्यात्मिक जीवन स्वास्थ्य-विरोध नहीं है ।

वह तो परिपूर्ण स्वास्थ्य है ।

वह तो एक लययुक्त, सगीतपूर्ण सौन्दर्य की स्थिति का ही पर्यायवाची है ।

शरीर-दमन अध्यात्म नही है, वह तो केवल भोगवादी वृत्तियो का शीर्षासन है । वह तो भोग की प्रतिक्रिया मात्र है ।

उसमें ज्ञान नही, अज्ञान और आत्म-हिंसा है । वह वृत्ति हिंसक है ।

उसमे कोई कही नही पहुँचता है ।

शरीर का दमन नही करना है ।

वह तो बेचारा केवल उपकरण है और अनुगामी है ।

वह तो मैं जैसा हूँ, वैसा ही हो जाता है।
मैं वासना में हूँ तो वह वहाँ साथ देता है।
मैं साधना में हो जाऊँ तो वह वहाँ साथी हो जाता है।
वह मेरे पीछे है।
परिवर्तन उसमें नही, वह जिसके पीछे है, उसमे करना है।

९३ / "मैं" का होना बंधन है

मैं शांति, आनन्द और मुक्ति की बातें कर रहा हूँ। जीवन की वही केन्द्रीय खोज है। वह पूरी न हो तो जीवन व्यर्थ हो जाता है।

कल यह कह रहा था कि एक युवक ने पूछा कि **क्या सभी को मोक्ष मिल सकता है और यदि मिल सकता है तो फिर मिल क्यों नहीं जाता है ?**

एक कहानी मैंने उससे कही।

गौतम बुद्ध के पास एक प्रभात किसी व्यक्ति ने भी यही पूछा था। उन्होंने कहा था कि जाओ और नगर में पूछकर आओ कि जीवन में कौन क्या चाहता है ? वह व्यक्ति घर-घर गया और संध्या को थका-मादा एक फेहरिस्त लेकर लौटा। कोई यश चाहता था, कोई पद चाहता था, कोई धन वैभव, समृद्धि, पर मुक्ति का आकांक्षी तो कोई भी नहीं था ! बुद्ध बोले थे कि अब बोलो, अब पूछो, मोक्ष तो प्रत्येक को मिल सकता है ? वह तो है ही, पर तुम एक बार उस ओर देखो भी तो ! हम तो उस ओर पीठ किये खड़े हैं।

यही उत्तर मेरा भी है।

मोक्ष प्रत्येक को मिल सकता है, जैसे कि प्रत्येक बीज पौधा हो सकता है।

वह हमारी संभावना है, पर संभावना को वास्तविकता में बदलना है।

इतना मैं जानता हूँ कि बीज को वृक्ष बनाने का यह काम कठिन नहीं है। यह बहुत ही सरल है।

बीज मिटने को राजी हो जाय, तो अंकुर उसी क्षण आ जाता है।

मैं मिटने को राजी हो जाऊँ, तो मुक्ति उसी क्षण आ जाती है।

'मैं' बन्धन है, वह गया कि मोक्ष है।

'मैं' के साथ संसार में हूँ, 'मैं' नहीं कि 'मैं' ही मोक्ष हूँ।

९४ / सब में छिपा है मुक्ति का बीज

एक वर्ष हुआ। बीती बरसात मे गुलतेवरी के फूल बोये थे। वर्षा गयी तो साथ ही फूल भी चले गये थे। फिर उनके सूखे पौधो को अलग कर दिया था। इस बार देखता हूँ कि वर्षा आयी है तो गुलतेवरी के अकुर फिर अपने आप ही फूट रहे है। जगह-जगह भूमि को तोडकर उनने झाँकना शुरू किया है।

एक वर्ष तक विगत वर्ष छूटे बीजो ने प्रतीक्षा की है और अब उनको पुन जन्म पाते देखना आनन्दपूर्ण है। भूमि के अधेरे मे, सर्दी और गर्मी मे वे प्रतीक्षा करते रहे हैं और अब कही जाकर उन्हे पुन प्रकाश पाने का अवसर मिला है। इस उपलब्धि पर उन नवजात पौधो मे मगल-सगीत छाया हुआ है। उसे मै अनुभव करता हूँ।

सदियो पूर्व किसी अमृत कठ ने गाया था, "तमसो मा ज्योतिर्गमय।"

अधेरे से प्रकाश पाने की आकाक्षा किसमे नही है?

क्या मनुष्य मे, क्या प्रत्येक प्राणी मे, ऐसे बीज नही छिपे है, जो प्रकाश पाना चाहते है?

क्या वहाँ भी जन्म-जन्मो से अवसर की प्रतीक्षा और प्रार्थना नही है?

प्रत्येक के भीतर छिपे है ये बीज और इन बीजो से ही पूर्ण होने की प्यास उठती है।

प्रत्येक के भीतर छिपी है, ये लपटे और ये लपटे सूरज को पाना चाहती है।

इन बीजो को पौधो मे बदले बिना कोई तृप्त नही होता है।

पूर्ण हुए बिना कोई मार्ग नही है।

पूर्ण होना ही होता है, क्योकि मूलत प्रत्येक बीज पूर्ण ही है।

९५ / योग से नित नूतन का जन्म

नया प्रभात। नया सूरज। नयी धूप। नये फूल। सोकर उठा हूँ। सब नया नया है।

जगत् में कुछ भी पुराना नहीं है।

कई सौ वर्ष पहले यूनान में हेराक्लतु ने कहा था, "एक ही नदी में दो बार उतरना असभव है।"

सब नया है, पर मनुष्य पुराना पड जाता है। मनुष्य नये में जीता ही नहीं, इसलिए पुराना पड जाता है। मनुष्य जीता है—स्मृति मे, अतीत में, मृत में। यह जीना ही है, जीवन नहीं है। यह अर्ध-मृत्यु है और इस अर्द्ध-मृत्यु को ही हम जीवन मानकर समाप्त हो जाते हैं।

जीवन न अतीत मे है, न भविष्य मे है। जीवन तो नित्य वर्तमान मे है।

वह जीवन योग से मिलता है, क्योंकि **योग चिर-नवीन में जगा देता है। योग चिर-वर्तमान मे जगा देता है।**

उसमे जागना है, 'जो है।

'जो था' वह भी नहीं है, 'जो होगा' वह भी नहीं है। और 'जो है', वह प्रकट तब होता है, जब मानव-चित्त स्मृति और कल्पना के भार से मुक्त हो।

स्मृति मृत का सकलन है, उससे जीवन को नहीं पाया जा सकता है।

और कल्पना भी स्मृति की ही पुत्री है। वह उसकी ही प्रतिध्वनि और प्रक्षेप है।

वह सब ज्ञात मे भटकना है।

उससे जो अज्ञात है, उसके द्वार नहीं खुलते हैं।

ज्ञात को जाने दो, ताकि अज्ञात प्रकट हो सके।

मृत को जाने दो, ताकि जीवित प्रकट हो सके।

योग का सार-सूत्र यही है।

९६ / दुख मुक्ति के लिए चेतना का जागरण जरूरी

रात्रि घनी हो रही है। आकाश मे थोडे-से तारे है और पश्चिम मे खडित चाँद लटका हुआ है। बेला खिली है और उसकी गध हवा मे तैर रही है।

मै एक महिला को द्वार तक छोडकर लौटा हूँ। मै उन्हे जानता नही हूँ। कोई दुख उनके चित्त को घेरे है। उसकी कालिमा उनके चारो ओर एक मडल बनाकर खडी हो गयी है।

यह दुखमडल उनके आते ही मुझे अनुभव हुआ था। उन्होने भी, बिना समय खोये, आते ही पूछा था कि क्या कोई दुख मिटाया जा सकता है ? मै उन्हें देखता हूँ, वे दुख की एक प्रतिमा मालूम होती है।

और, सारे लोग ही धीरे-धीरे ऐसी ही प्रतिमाएँ होते जा रहे है।

वे सभी दुख मिटाना चाहते है, पर नही मिटा पाते है, क्योकि दुख का, उनका निदान सत्य नही है।

चेतना की एक स्थिति मे दुख होता है। वह उस स्थिति का स्वरूप है। उस स्थिति के भीतर दुख से छुटकारा नही है। कारण, वह स्थिति ही दुख है। उसमे एक दुख हटाये तो दूसरा आ जाता है। यह शृखला चलती जाती है। इस दुख से छूटे, उस दुख से छूटे, पर दुख से छूटना नही होता है। दुख बना रहता है, केवल निमित्त बदल जाते है।

दुख से मुक्ति, पाने से नही, **चेतना की स्थिति बदलने से ही दुख निरोध होता है—दुख मुक्ति होती है।**

एक अधेरी रात गौतम बुद्ध के पास एक युवक पहुँचा था—दुखी, चिंतित, सतापग्रस्त। उसने जाकर कहा था, "ससार कैसा दुख है, कैसी पीडा है।" गौतम बुद्ध बोले थे, "मै जहाँ हूँ, वहाँ आ जाओ, वहाँ दुख नही है, वहाँ सताप नही है।"

एक चेतना है, जहाँ दुख नही है। इस चेतना के लिए ही बुद्ध बोले थे, 'जहाँ मै हूँ।'

मनुष्य की चेतना की दो स्थितियाँ है, अज्ञान की और ज्ञान की, पर–तादात्म्य की और स्व–बोध की।

मै जब तक 'पर' से तादात्म्य कर रहा हूँ, तब तक दुख है।

यह पर-बधन ही दुख है।

'पर' से मुक्त होकर 'स्व' को जानना और स्व में होना दुख-निरोध है।

मै अभी 'मै' नही हूँ, इससे दुख है। मै जब वस्तुत 'मै' होता हूँ, तब दुख मिटता है।

१७ / "मैं" की गाँठ और शून्य का भय

आकाश आज तारों से नहीं भरा है। काली बदलियाँ घिरी हैं और रह-रह कर बूंदें पड़ रही हैं।

रातरानी के फूल खिल गये हैं और हवाएँ सुवासित हो गयी हैं।

मैं हूँ, ऐसा कि जैसे नहीं ही हूँ, और न होकर होना पूर्ण हो गया है।

एक जगत् है, जहाँ मृत्यु जीवन है और जहाँ खो जाना, पा जाना है।

एक दिन सोचा था, बूंद को सागर में गिरा देना है।

अब पाता हूँ कि यह तो सागर ही बूंद में गिर आया है।

मनुष्य का होना ही उसका बंधन है। उसका शून्य होना मुक्ति है।

यह होने की गाँठ व्यर्थ ही भटकाती है।

और शून्य होने का भय पूर्ण होने से रोकता है।

जब तक 'न कुछ' होने की तैयारी नहीं है, तब तक मनुष्य 'न कुछ' ही बना रहता है।

मृत्यु में उतरने का जब तक साहस नहीं है, तब तक मृत्यु में ही भटकना होता है।

पर जो मृत्यु लेने को तैयार हो जाता है, वह पाता है कि मृत्यु है ही नहीं।

और **जो मिटने को राजी हो जाता है, वह पाता है कि उसमें कुछ है जो कि मिट ही नहीं सकता है।**

ऐसा विरोध का नियम, जीवन का नियम है।

इस नियम को जानना योग है।

और ठीक से जान लेना उसके बाहर हो जाना है।

विरोध के इस नियम का ज्ञात न होना ही भटकाता है।

उसके ज्ञात हो जाने से भटकन समाप्त हो जाती है।

और वह उपलब्ध होता है, जो कि यात्रा का पड़ाव नहीं, यात्रा का अंत है।

९८ / वासनाओं का बंधन

एक पूर्णिमा की रात्रि मधुशाला से कुछ लोग नदी-तट पर नौका-विहार को गये थे। उन्होंने एक नौका को खेया—अर्ध-रात्रि से प्रभात तक वे अथक् पतवार चलाते रहे थे। सुबह सूरज निकला, ठडी हवाएँ बही तो उनकी मधु-मूर्च्छा टूटने लगी। उन्होंने सोचा कि अब वापस लौटना उचित है। यह देखने के लिए कि कहाँ तक चले आये है, वे नौका से तट पर उतरे। पर तट पर उतरते ही उनकी हैरानी की सीमा न रही, क्योंकि उन्होंने पाया कि नौका वही खडी है, जहाँ रात्रि उन्होंने उसे पाया था !

रात्रि वे यह भूल ही गये थे कि पतवार चलाना भर पर्याप्त नही है, नौका को तट से खोलना भी पडता है।

आज सध्या यह कहानी कही है।

एक वृद्ध आये थे। वे कह रहे थे, मैं जीवन भर चलता रहा हूँ, लेकिन अब अन्त मे ऐसा लगता है कि कही पहुँचना नही हुआ। उनसे ही यह कहानी कहनी पडी है।

मनुष्य मूर्च्छित है। स्व-अज्ञान उसकी मूर्च्छा है। इस मूर्च्छा मे समस्त कर्म उसका यात्रिक है।

इस विवेक-शून्य स्थिति मे वह चलता है, जैसे कोई निद्रा मे चलता है, पर कही पहुँच नही पाता है।

नाव की जजीरे जैसे तट से बँधी रह गयी थी, ऐसे ही इस स्थिति मे वह भी कही बँधा रह जाता है।

इस बधन को धर्म ने वासना कहा है।

वासना से बँधा मनुष्य, आनन्द के निकट पहुँचने के भ्रम मे बना रहता है।

पर उसकी दौड एक दिन मृग-मरीचिका सिद्ध होती है।

वह कितनी ही पतवार चलाये, उसकी नाव अतृप्ति के तट को छोडती ही नही है।

वह रिक्त और अपूर्ण ही जीवन को खो देता है।

वासना स्वरूपत दुष्पूर है।

जीवन चुक जाता है—वह जीवन जिसमे दूसरा किनारा पाया जा सकता था, वह जीवन जिसमे यात्रा पूरी हो सकती थी, व्यर्थ हो जाता है और पाया जाता है कि नाव वही की वही खडी है।

प्रत्येक नाविक जानता है कि नाव को सागर मे छोडने के पहले तट से खोलना होता है।

प्रत्येक मनुष्य को भी जानना चाहिए कि आनन्द के, पूर्णता के, प्रकाश के सागर में नाव छोड़ने के पूर्व तट से वासना की जंजीरें अलग कर लेनी होती हैं।

इसके बाद तो फिर शायद पतवार भी नहीं चलानी पड़ती है।

रामकृष्ण ने कहा है, "तू नाव तो छोड़, पाल तो खोल, प्रभु की हवाएं प्रतिक्षण तुझे ले जाने को उत्सुक हैं।"

९९ / ध्यान अर्थात् आनंद का नया आयाम खोलना

एक साधु कल आये थे। ध्यान की साधना पर उनसे बाते हुई है।

यह जानकर बहुत आश्चर्य होता है कि मन के स्वरूप के सम्बन्ध में कितनी भ्रान्त और मिथ्या धारणाएँ प्रचलित है।

उसे शत्रु मानकर साधना प्रारम्भ करने से सब साधना ही गलत हो जाती है।

न मन शत्रु है, न शरीर शत्रु है। वे तो यत्र है और सहयोगी है।

चेतना उनका जैसा उपयोग करना चाहे, कर सकती है।

प्रारम्भ से ही शत्रुता और सघर्ष की वृत्ति दमन करती है। और परिणाम-स्वरूप सारा जीवन विषाक्त हो जाता है।

मनुष्य का मन स्वभावत. आनन्दोन्मुख है। इसमे कुछ बुरा भी नही है।

यह तो उसका स्वरूप के प्रति आकर्षण है।

यह न हो तो व्यक्ति कभी आत्मिक जीवन की ओर नही जा सकता।

यह मन आनन्द की खोज ससार में करता है और फिर जब उसे वहाँ नही पाता है तो भीतर की ओर मुडता है।

आनन्द केन्द्र है—ससार का भी, मोक्ष का भी। उसकी धुरी पर ही सारा लौकिक-पारलौकिक जीवन घूमता है।

इस आनन्द की झलक बाहर दीखती है, इससे बाहर दौड होती है।

ध्यान से इस आनन्द का वास्तविक स्रोत दीखने लगता है, इससे दिशा वहाँ मुड जाती है।

मन को जबरदस्ती भीतर नही मोडना है।

इस दमन से ही वह शत्रु मालूम होने लगता है।

आनद का नया आयाम खोलना है।

इस आयाम के खुलते ही मन अपने आप भीतर जाता पाया जाता है।

वह तो आनन्दोन्मुख है।

जहाँ आनद है, वहाँ उसकी सहज गति है।

आनन्द जीवन का लक्ष्य है।

आनन्द—अखड आनन्द, जीवन का उद्देश्य है।

ससार में उसकी झलक है—प्रतिफलन है।

मोक्ष मे उसका मूलस्रोत है। बाहर उसका प्रक्षेप है, भीतर उसका मूल है।

परिधि पर छाया है, केन्द्र पर उसके प्राण हैं।

इससे संसार मोक्ष का विरोध नहीं है।

बाहर भीतर का शत्रु नहीं है।

समस्त सत्ता एक संगीत है।

इस सत्य के दर्शन होते ही व्यक्ति बंधन के बाहर हो जाता है।

१०० / अत्यंत एकाकीपन की प्रसवपीड़ा

सुबह ही सुबह एक युवक आ गये हैं। उदास दीखते हैं और लगता है कि जैसे भीतर किसी एकाकीपन ने घेर लिया है। कुछ जैसे खो गया है और आँखें उसे खोजती मालूम होती हैं। मेरे पास वे कोई वर्ष भर से आ रहे हैं और ऐसे भी एक दिन आयेंगे यह भी भलीभाँति जानता था। इसके पूर्व उनमें काल्पनिक आनन्द था, वह धीरे-धीरे विलीन हो गया है।

कुछ देर सन्नाटा सरकता रहा है। उन्होंने आँखें बन्द कर ली हैं और कुछ सोचते-से मालूम होते हैं। फिर, प्रकटत बोले, "मैं अपनी आस्था खो चुका हूँ, मैं एक स्वप्न में था, वह जैसे खडित हो गया है। ईश्वर साथ मालूम होता था, अब अकेला रह गया हूँ और बहुत घबराहट होती है। इतना असहाय तो मैं कभी भी नही था। पीछे वापस लौटना चाहता हूँ, पर वह भी अब सभव नही दीखता है। वह सेतु खडहर हो गया है।"

मैं कहता हूँ, जो नही था, केवल वही छीना जा सकता है। जो है, उसका छीनना सभव नही है।

स्वप्न और कल्पना के साथी से एकाकीपन मिटता नही है, केवल मूर्च्छा में दब जाता है।

ईश्वर की कल्पना और मानसिक प्रक्षेप से मिला आनन्द वास्तविक नही है।

वह सहारा नही, भ्राति है।

और भ्रातियो से जितनी जल्दी छुटकारा हो, उतना ही अच्छा।

ईश्वर को वस्तुत पाने के लिए समस्त मानसिक धारणाओ को त्यागना पडता है।

और उन धारणाओ मे ईश्वर की धारणा भी अपवाद नही है।

वह भी छोडनी पडती है।

यही त्याग है और यही तप है।

क्योकि, स्वप्नो को छोडने से अधिक कष्ट और किसी बात में नहीं है।

कल्पना, स्वप्न और धारणाओं के विसर्जन पर 'जो है' वह अभिव्यक्त होता है।

निद्रा टूटती है और जागरण आता है।

फिर जो पाना है, वही वास्तविक पाना है, क्योकि उसे कोई छीन नही सकता है।

वह किसी और अनुभूति से खडित नही होता है, क्योकि वह परानुभूति अनुभूति नही, स्वानुभूति है।

वह किसी दृश्य का दर्शन नहीं, स्वयं शुद्ध द्रष्टा का बोध है।

वह ईश्वर का विचार नहीं, स्वय ईश्वर में होना है।

ईश्वर की काल्पनिक धारणा और आस्था खो गयी है तो घबराओ मत। यह शुभ ही है।

सब धारणाएँ खो दो और फिर देखो। तब जो दिखायी पड़ता है, वही ईश्वर है।

१०१ / मनुष्य की अज्ञात जड़ें—विचारातीत अस्तित्व में

एक मित्र कागज के कुछ फूल भेंट कर गये हैं। उन फूलो को देखता हूँ—जो दीख रहा है, उसके पार उनमें कुछ भी नही है। **उनमें सब-कुछ दृश्य है, अदृश्य कुछ भी नहीं।** और बाहर क्यारियो मे गुलाब के फूल खिले हैं, उनमे जो दीख रहा है, उसके पार कुछ अनदीखा भी है और वह अदृश्य ही उनका प्राण है।

आधुनिक सभ्यता कागज के फूलो की सभ्यता है।

दीखने—दृश्य—पर वह समाप्त है और इसीलिए निष्प्राण भी है।

अदृश्य से, अज्ञात से, नाता टूट गया है।

और इसलिए मनुष्य जितना आज जडो से अलग हो गया है, उतना इसके पूर्व कभी भी नही हुआ था।

वृक्ष, फूल, फल, पत्ते सब दृश्य हैं, पर जडे भूमि मे होती हैं—जडे अज्ञात और अदृश्य मे होती हैं।

और जो जडे देखी जा सकती हैं, सब जडे उन पर ही समाप्त नही हो जाती हैं—और भी जडे हैं जो देखी नही जा सकती।

प्राण जहाँ से महाप्राण से सयुक्त है, वह केन्द्र अज्ञात ही नही, अज्ञेय भी है।

इस अज्ञेय से सयुक्त मनुष्य वास्तविक जडो को पा जाता है।

इस अज्ञेय को विचार से नही पाया जा सकता। विचार की सीमा ज्ञेय पर समाप्त है।

विचार स्वय ज्ञेय और दृश्य है।

और जो दृश्य है, वह अदृश्य को जानने का माध्यम नहीं बन सकता।

सत्ता विचार के पार है। अस्तित्व विचार के अतीत है।

अस्तित्व को इसलिए जाना नही जाता है, हुआ जाता है।

उससे प्रथम दर्शक होकर परिचित होना नही होता, वरन् उसमे एक होकर होना होता है।

विचार छोडकर, शान्त शून्य होकर, वह अद्वैत आता है, जो सत्य मे, सत्ता मे खडा कर देता है।

कागज के फूल देखने हो तो दूर से देखे जा सकते हैं, उनका द्रष्टा हुआ जा सकता है।

पर, असली फूल देखने हो तो फूल बन जाना जरूरी है।

१०२ / प्रौढ़ता फलित—मन के सपनों से मुक्ति द्वारा

एक लड़की रो रही है। उसकी गुड़िया टूट गयी है और अब मैं सोचता हूँ कि सब रोना क्या गुड़ियों के टूट जाने के लिए ही रोना नहीं है ?

कल सध्या एक वृद्ध आये थे। उन्होंने जीवन में जो चाहा था, वह नही हो सका। वे उदास थे और सतापग्रस्त थे।

एक महिला आज मिली थी और बाते करते-करते आँसू पोछ लेती थी। उन्होंने स्वप्न देखे थे और वे सत्य नही हुए है।

और अब यह लड़की रो रही है। और क्या इस लड़की की आँखो मे सब आँसुओ की बुनियादी झलक नही है।

और, उसके सामने टूटी पडी गुडिया मे क्या सब आँसुओ का मूल कारण साकार नही हुआ है ?

उसे कोई समझा रहा है कि आखिर गुडिया ही तो है, उसके लिए रोना क्या है ? यह सुन मुझे हँसी आ गयी है।

काश, मनुष्य इतना ही जान ले तो क्या समस्त दु ख समाप्त नही हो जाते ?

गुड़िया बस गुड़िया है, यह जानना कितना कठिन है !

मनुष्य मुश्किल मे इतना प्रौढ हो पाता है कि यह जान सके।

शरीर का प्रौढ होना एक बात है, मनुष्य का प्रौढ होना बिलकुल दूसरी बात है।

प्रौढता क्या है ?

मनुष्य की प्रौढ़ता मन से मुक्त होना है।

मन जब तक है, तब तक गुडियों को बनाता रहता है।

मन से मुक्त होते ही गुड़ियों से मुक्ति होती है।

१०३ / ध्यान है—"न-करने" में होना

'मैं साधक हूँ। आध्यात्मिक साधना में लगा हूँ। क्रमश: गति होती जा रही है, एक दिन प्राप्ति भी हो जाने को है।'

एक साधु ने एक दिन मुझसे कहा था। उनके शब्दो मे मुझे साधना नही, वासना ही लगी थी। ऐसी साधना भी बाधा है।

जो है, उसे पाने का अभ्यास क्या करना है ?

उसे पाना भी तो नही, **यही जानना है कि वह खोया ही नहीं गया है।**

और तथाकथित साधना का उपक्रम इस सत्य को छिपा देता है।

उसके मूल मे भी वासना है और कुछ पाने और कुछ बदलने की आकांक्षा है।

मैं जो हूँ, उसे बदलना है। 'अ' को 'ब' बनाना है।

समस्त वासना के मूल मे यही द्वन्द्व होता है, यही द्वैत होता है।

यह द्वैत ही जगत् है और दु:ख है।

मैं कहता हूँ, "**आप जो हो, उससे जरा भी कुछ और होने की आकांक्षा यदि है, तो आप 'जो है' उसके विपरीत जा रहे हो।**"

और 'जो है' वही मार्ग है।

'जो है' उसके प्रति जागते ही जीवन एक सहजता और सौन्दर्य से भर जाता है।

एक स्वतन्त्रता और मुक्ति स्वाँस-स्वाँस मे भर जाती है।

यह सौंदर्य तथाकथित अभ्यासी को कभी उपलब्ध नही होता है।

उसमे एक हिंसा, एक दमन और कुछ होने की वासना के लक्षण सहजता को नष्ट कर देते हैं।

इसलिए एक कुरूपता समस्त तथाकथित साधुओ मे होती है।

फिर क्या करे ? कुछ भी नही।

न करना, कुछ भी न करना, ध्यान है।

कर्म मे स्व नही है, विचार मे स्व नही है।

कर्म और विचार के बाहर होते ही वह आविष्कृत हो जाता है।

सब छोड दो, सब मिट जाने दो, सब विलीन हो जाने दो।

और फिर इस 'न कुछ' मे, इस शून्य मे जो दीखता है, वही सब-कुछ है।

१०४ / धर्म अर्थात् अपने में होना

एक प्रबोध-कथा है

एक युवक ने किसी साधु से पूछा था, "मोक्ष की विधि क्या है ?" उस साधु ने कहा, "तुम्हें बाँधा किसने है ?" वह युवक एक क्षण रुका, फिर बोला, "बाँधा तो किसी ने भी नही है।"

तब उस साधु ने पूछा, "फिर मुक्ति क्यो खोजते हो ?"

मुक्ति क्यो खोजते हो ? यही कल मैंने भी एक व्यक्ति से पूछा है।

यही प्रत्येक को अपने से पूछना है।

बधन है कहाँ ?

जो है, उसके प्रति जागो। जो है, उसके बदलने की फिक्र छोड़ो।

आदर्श के पीछे मत दौडो।

जो भविष्य मे है वह नही, जो वर्तमान है वही तुम हो।

और वर्तमान मे कोई बधन नही है।

वर्तमान के प्रति जागते ही बधन नहीं पाये जाते हैं।

आकाक्षा—कुछ होने और कुछ पाने की आकाक्षा ही बधन है।

आकाक्षा सदा भविष्य मे है, आकाक्षा सदा कल है, वही बधन है, वही तनाव है, वही दौड है, वही ससार है।

यह आकाक्षा ही मोक्ष का निर्माण करती है। मोक्ष पाने के मूल मे वही है।

और बधन मूल मे हो तो परिणाम मे मोक्ष कैसे हो सकता है ?

मोक्ष की शुरुआत मुक्त होने से करनी होती है।

वह अत ही नही, वही प्रारम्भ भी है।

मोक्ष पाना नही है, वरन् दर्शन करना है कि मै मोक्ष मे ही खडा हूँ।

मै मुक्त हूँ, यह बोध शात जाग्रत चेतना में सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

प्रत्येक मुक्त है, केवल इस सत्य के प्रति जागना मात्र है।

मै जैसे ही दौड छोडता हूँ—कुछ होने की दौड जैसे ही जाती है कि मै हो आता हूँ और 'हो आना—' पूरे अर्थों मे हो आना ही मुक्ति है।

तथाकथित धार्मिक इस 'हो आने' को नही पाता है, क्योकि वह दौड मे है—मोक्ष पाने की, आत्मा को पाने की, ईश्वर को पाने की।

और जो दौड मे है, चाहे उस दौड का रूप कुछ भी क्यो न हो, वह अपने में नही है।

धार्मिक होना आस्था की बात नही, किसी प्रयास की बात नही, किसी क्रिया की बात नही।

धार्मिक होना तो अपने मे होने की बात है।

और यह मुक्ति एक क्षणमात्र मे आ सकती है।

इस सत्य के प्रति सजग होते ही, जागते ही कि बधन दौड़ मे है, आकाक्षा में है, आदर्श में है, अधेरा गिर जाता है।

और जो दीखता है, उसमे बधन पाये ही नही जाते है।

सत्य एक क्षण में क्रान्ति कर देता है।

१०५ / सार्थकता का अतिक्रमण

सूरज निकलता है। सर्दियो की सुबह। रात हवाएँ ठडी थी। और सुबह दूब पर ओसकण भी फैले थे। अब तो किरणे उन्हे पी गयी हैं और धूप भी गरमा गयी है।

एक सुखद सुबह दिन का प्रारम्भ कर रही है। पक्षियो के अर्थहीन गीत भी कितने अर्थपूर्ण मालूम होते हैं—पर शायद जीवन मे कोई अर्थ नही है।

और अर्थ की कल्पना मनुष्य की अपनी है।

अर्थ नही, शायद इससे ही जीवन मे अनन्त गहराई और विस्तार है।

अर्थ तो सीमा है।

जीवन-अस्तित्व है असीम, इससे अर्थ वहाँ कोई भी नही है।

और जो अपने को इस असीम मे असीम कर लेता है, इस विराट् अर्थ शून्यता मे अर्थ शून्य हो जाता है, वह उसे पा लेता है 'जो है'—वह उस अस्तित्व को पा लेता है।

सब अर्थ क्षुद्र है और क्षुद्र का है।

सब अर्थ अहं के बिन्दु से देखा गया है।

अहं ही अर्थ का केन्द्र है।

उससे जो जगत् देखा जाता है, वह वास्तविक जगत् नही है।

जो भी 'मै' से सबधित है, वह वास्तविक नही है।

सत्य अखड इकाई है, वह 'मै' और 'न मै' मे विभाजित नही है।

सब अर्थ 'मै' का है।

इससे जो अखड है, जो 'मै' और 'न मै' के अतीत है, वह अर्थ शून्य है।

उसमे न अर्थ है, न 'अर्थ' नही है।

उसे कोई भी नाम देना गलत है।

उसे ईश्वर कहना भी गलत है।

ईश्वर भी 'मै' के ही प्रसग मे है। वह भी 'मै' की ही धारणा है।

कहे कि जो भी सार्थक है, वह व्यर्थ है।

सार्थकता की सीमा के बाहर हो जाना आध्यात्मिक हो जाना है।

बोधिधर्म से किसी ने पूछा था, "पवित्र निर्वाण के सबध मे कुछ कहें ?"

वह बोला था, "पवित्रता कुछ भी नहीं, बस शून्यता और केवल शून्यता।"

१०६ / समाधि = निःशब्द, जाग्रत चेतना

एक मुर्गा बोल रहा है—सुनता हूँ।
एक गाडी मार्ग से जा रही है—देखता हूँ।
सुनना है, देखना है और बीच मे कोई शब्द नहीं है।
शब्द सत्ता से तोड देता है।
शब्द सत्य के सबध मे है, सत्य नही है।
सत्य तक शब्द से नही, शब्द खोकर पहुँचना होता है।
और, शब्द खोना समाधि है।
लेकिन केवल शब्द खोना मात्र समाधि नही है।
शब्द तो मूर्च्छा मे भी खो जाते है सुषुप्ति मे भी खो जाते है।
शब्द खोकर भी जागृत, चेतन और प्रबुद्ध बने रहना समाधि है।

यह एक साधु से कह रहा हूँ। वे तल्लीनता और मूर्च्छा को समाधि मानते रहे हैं।

यह भ्रम बहुता को रहा है।
यह भ्रम बहुत घातक है।

इस भ्रम से ही पूजा और भक्ति और मूर्च्छित होने के बहुत-से उपाय प्रचलित हुए है।

वे सब उपाय पलायन है और उनका उपयोग मादक द्रव्यो से भिन्न नही है।
उनमे व्यक्ति अपने को भूल जाता है।
इस भूलने, इस आत्म-विस्मरण से आनन्द का आभास पैदा होता है।
पर योग आत्म-विस्मरण नही, पूर्ण आत्म-स्मरण चाहता है।
मैं जब परिपूर्ण रूप से जागता हूँ, तब मैं परिपूर्ण रूप से हो पाता हूँ।
यह जागना शब्द से विचार से, मन से मुक्त होने से होता है।
इस जागृति मे, इस शब्द शून्य चेतना में, 'मै' मिट जाता है।

पर मैं नही मिटता हूँ, वरन् 'मै' के मिट जाने पर, अह-बोध के मिट जाने पर मैं परिपूर्ण हो जाता हूँ।

१०७ / विचार का झीना परदा और सत्य

अमावस उतर रही है। पक्षी नीडों पर लौट आये हैं और घिरते अंधेरे में वृक्षों पर रात्रि-विश्राम के पूर्व की चहल-पहल है। नगर मे दीप जलने लगे है। थोडी ही देर बाद आकाश मे तारे और नीचे दीप ही दीप हो जाने को हैं।

पूर्वीय आकाश मे दो छोटी काली बदलियाँ तैर रही हैं। कोई साथी नही है—एकदम अकेला हूँ। कोई विचार नही, बस बैठा हूँ और बैठना कितना आनन्दप्रद है। आकाश और आकाश-गंगा अपने मे समा गयीम लूम होती है।

विचार नहीं होते हे तो व्यक्ति-सत्ता, विश्व-सत्ता से मिल जाती है।

एक छोटा-सा ही पर्दा है, अन्यथा प्रत्येक प्रभु है।

आँख पर तिनका है और तिनके ने प्रभु को छिपा लिया है।

यह छोटा-सा ही तिनका ससार बन गया है।

इस छोटे-से तिनके के हटते ही अनन्त आनन्द-राज्य के द्वार खुल जाते हैं।"

जीसस क्राइस्ट ने कहा है, "जरा-सा खटखटाओ और द्वार खुल जाते हैं।

मैं तो कहता हूँ, "**जरा-सा झाँको भर, द्वार खुले ही है।**"

एक व्यक्ति सूर्यास्त की दिशा मे भागा जा रहा था उसने किसी से पूछा, "पूर्व कहाँ है ?" उत्तर मिला, "पीठ भर फेर लो, पूर्व तो आँख के सामने ही मिल जायेगा।"

सब उपस्थित है।

ठीक दिशा मे आँख भर फेरने की आवश्यकता है।

यह बात सारे जगत् मे कह देनी है।

इसे ठीक से सुन भी लेना, बहुत-कुछ पा लेना है।

स्व-दिव्यता की आस्था आधी उपलब्धि है।

मैंने आज ही मिलने आये एक मित्र से कहा है, सम्पत्ति पास है, केवल स्मरण नही रहा है।

सम्यक् स्मृति जगाओ—अपनी दिव्यता को स्मरण करो—कौन हो तुम ?

अपने को पूछो—पूछो—और इतना पूछो कि समस्त मन-प्राण पर वह अकेला स्वर ही गूँजता रह जाये।

फिर अचेतन मे उसका तीर उतर जाता है और वह अलौकिक उत्तर अपने आप सामने आ खडा होता है जिसे जान लेना, सब-कुछ जान लेना है।

१०८ / स्वयं से पलायन नहीं, स्वयं का साक्षात्

रात्रि अभी गयी नही है और विदा होते तारो से आकाश भरा है। नदी एक पतली चाँदी की धार जैसी मालूम होती है। रेत, रात गिरी ओस से, ठडी हो गयी है और हवाओ में भी बहुत ठडक है।

एक गहरा सन्नाटा है और बीच-बीच मे पक्षियो की आवाज उसे और गहरा बना देती है।

एक मित्र को साथ ले कुछ जल्दी ही इस एकात मे चला आया हूँ। वे मित्र कह रहे हैं कि एकात मे भय मालूम होता है और सन्नाटा काटता-सा लगता है। किसी भाँति अपने को भरे रहे तो ठीक, अन्यथा न मालूम कैसा सताप और उदासी घेर लेती है।

यह सताप प्रत्येक को घेरता है।

कोई भी अपना साक्षात् नही करना चाहता।

स्वय मे झाँकने से घबराहट मालूम होती है।

और एकात स्वय के साथ छोड देता है, इसलिए एकात भयभीत करता है।

'पर' में उलझे हों तो 'स्व' भूल जाता है।

वह एक तरह की मूर्च्छा है और पलायन है।

जीवन भर मनुष्य इस पलायन मे लगा रहता है।

पर यह पलायन अस्थायी है और मनुष्य किसी भी भाँति अपने आपसे बच नहीं सकता।

बचाव के लिए की गयी उसकी सब चेष्टाएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

क्योकि, वह जिससे बचना चाह रहा है, वह स्वय तो वही है।

अपने से कैसे बच जा सकता है और अपने से कैसे भागा जा सकता है!

हम सबसे भाग सकते हैं, पर स्वयं से नहीं भाग सकते।

जीवन भर भागकर हम अत मे पायेगे कि कही भी नही पहुँचे हैं।

इसलिए जो विवेकशील हैं, वे स्वय से भागते नहीं, स्वय का साक्षात् करते हैं।

मनुष्य भीतर झाँके तो शून्य का अनुभव होता है।

वहाँ अनत शून्य है।

इसलिए घबडाकर वह बाहर भागता है।

उस शून्य को भरने का वह अनत प्रयास करता है।

ससार मे और सबधो मे उस शून्य को भरना चाहता है।

पर वह शून्य किसी भी तरह भरा नही जा सकता है।

उसे भरना असंभव है और यही उसका संताप है और असफलता है।

मृत्यु इसी संताप को उघाड़कर उसके सामने कर देती है।

मृत्यु उसे इसी शून्य में डाल देती है, जिससे वह जीवन भर बचता था और इसीलिए मृत्यु का भय सर्वोपरि है।

मैं कहता हूं, स्वयं के शून्य से भागना अज्ञान है।

उसके साक्षात, उसमें प्रवेश से जीवन का समाधान उपलब्ध होता है।

धर्म शून्य में प्रवेश है।

मनुष्य नितांत एकांत में अपने साथ जो करता है, वही धर्म है।

१०९ / बहने दो जीवन को

एक युवक ने पूछा है, "जीवन का आदर्श क्या है?"

रात्रि घनी हो गयी है और आकाश तारो से भरा है। हवाओ मे आज सर्दी है और शायद कोई कहता था कि कही ओले पडे हैं। राह निर्जन है और वृक्षो के तले घना अधेरा है।

और इस शान्त शून्य-घिरी रात्रि मे जीना कितना आनन्दमय है!

होना मात्र ही कैसा आनन्द है!

पर हम होना ही भूल गये हैं।

जीवन कितना आनन्द है, पर हम 'मात्र जीना' नही चाहते हैं।

हम तो किसी आदर्श के लिए जीना चाहते हैं।

जीवन को साधन बनाना चाहते है, जो कि **स्वय साध्य है।**

यह आदर्श की दौड सब विषाक्त कर देती है।

यह आदर्श का तनाव सब सगीत ताड देता है।

अकबर ने एक बार तानसेन से पूछा था, "तुम अपने गुरु जैसा क्यो नही गा पाते हो—उनमे कुछ अलौकिक दिव्यता है?" उत्तर मे तानसेन ने कहा था, "वे केवल गाते हैं—गाने के लिए गाते है और मैं—मेरे गाने मे उद्देश्य है।"

किसी क्षण केवल जी कर देखो।

केवल जिओ—जीवन से लडो मत, छीना-झपटी न करो।

चुप होकर देखो, क्या होता हे!

जो होता है, उसे होने दो।

'जो है' उसे होने दो।

अपनी तरफ से सब तनाव छोड दो और जीवन को बहने दो।

जीवन को घटित होने दो।

और जो घटित होगा—मैं विश्वास दिलाता हूँ—वह मुक्त कर देता है।

आदर्श का भ्रम सदियो पाले गये अधविश्वासो मे से एक है।

जीवन किसी और के लिए, कुछ और के लिए नही, **बस जीने के लिए है।**

जो किसी लिए जीता है, वह जीता ही नही है।

जो केवल जीता है, वही जीता है।

और वही उसे पा लेता है, जो कि पाने जैसा है।

वही आदर्श को भी पा लेता है।

उस युवक की ओर देखता हूँ। उसके चेहरे पर एक अद्‌भुत शांति फैल गयी है। वह कुछ बोलता नहीं है, पर सब बोल देता है। कोई एक घंटा मौन और शांत बैठकर वह गया है। वह बदलकर गया है। जाते समय उसने कहा है, "मैं दूसरा व्यक्ति होकर जा रहा हूँ।"

११० / समाज के दर्पण में स्वयं का प्रतिबिम्ब

सुबह हो गयी है। सूरज बदलियो मे है और धीमी फुहार पड़ रही है। वर्षा ने सब गीला-गीला कर दिया है।

एक साधु पानी मे भीगते हुए मिलने आये हैं। कोई पद्रह-बीस वर्ष हुए, उन्होंने आत्म-उपलब्धि के लिए गृह-त्याग किया था। त्याग तो हुआ, पर उपलब्धि नही हुई। इससे दु खी हैं।

समाज और सबध आत्म-लाभ मे बाधा समझे जाते हैं। ऐसी मान्यता ने व्यर्थ में अनेको को जीवन से तोड दिया है।

एक कहानी उनसे मैंने कही।

एक पागल स्त्री थी। उसे पूर्ण विश्वास था कि उसका शरीर स्थूल—भौतिक नही है। वह अपने शरीर को दिव्य काया मानती थी। कहती थी कि उसकी काया से और सुन्दर काया पृथ्वी पर दूसरी नही है।

एक दिन उस स्त्री को एक बडे आदमकद आईने के सामने लाया गया। उसने अपने शरीर को उस दर्पण में देखा और देखते ही उसके क्रोध की सीमा न रही। उसने पास रखी कुर्सी उठाकर दर्पण पर फेकी। दर्पण टुकडे-टुकडे हो गया तो उसने सुख की सास ली। दर्पण फोडने का कारण पूछा तो बोली थी कि वह मेरे शरीर को भौतिक किये दे रहा था। मेरे सौन्दर्य को वह विकृत कर रहा था।

समाज और सबध दर्पण से ज्यादा नहीं हैं।

जो हममे होता है, वे केवल उसे ही प्रतिबिम्बित कर देते हैं।

दर्पण तोडना जैसे व्यर्थ है, सबध छोडना भी वैसे ही व्यर्थ है।

दर्पण को नहीं, अपने को बदलना है। जो जहाँ है, वही यह बदलाहट हो सकती है।

यह क्रान्ति केन्द्र से शुरू होती है।

परिधि पर काम करना व्यर्थ ही समय खोना है।

स्व पर सीधे ही काम शुरू कर देना है।

समाज और सबध कहीं भी बाधा नहीं हैं।

बाधाएँ कोई है, तो वे स्वय मे हैं।

१११ / समाधि अर्थात् स्व-आधार चैतन्य

"ईश्वर है ?"—हमे ज्ञात नही।
"आत्मा है ?"—हमे ज्ञात नही।
"मृत्यु के बाद जीवन है ?"—हमे ज्ञात नही।
"जीवन मे कोई अर्थ है ?"—हमे ज्ञात नही।
यह 'हमे ज्ञात नही' यह आज का पूरा जीवन-दर्शन है।
इन तीन शब्दो मे हमारा पूरा ज्ञान समा जाता है।
'पर' के सम्बन्ध मे, पदार्थ के सबध मे जानने की हमारी दौड का अत नही है।
पर 'स्व' के, चैतन्य के सबध मे हम प्रतिदिन अधेरे मे डूबते जाते है।
बाहर प्रकाश मालम होता है, भीतर घुप्प अधेरा है।
परिधि पर ज्ञान है, केन्द्र पर अज्ञान है।
और आश्चर्य यह है कि केन्द्र को प्रकाशित करने का प्रयास भी नही करना है।
वहाँ आँख भर पहुँच जाये और सब प्रकाशित हो जाता है।
'पर' पर आँख न हो तो वह 'स्व' पर खुल जाती है।
बाहर उसे आधार न हो, तो वह स्व पर आधार खोज लेती है।
स्वाधार चैतन्य ही समाधि है।
समाधि सत्य का द्वार है।
उसमे यह नही कि सब प्रश्नो के उत्तर मिल जाते है, वरन् सब प्रश्न ही गिर जाते है।

प्रश्नो का गिर जाना ही असली उत्तर है।

जहाँ प्रश्न नहीं, और केवल चैतन्य है—शुद्ध चैतन्य है, वही उत्तर है, वहीं ज्ञान है।

इस ज्ञान को पाये बिना जीवन निरर्थक है।

११२ / रुको और जानो

'एक सराय मे एक रात एक यात्री ठहरा था। वह जब पहुँचा तो कुछ यात्री विदा हो रहे थे। सुबह जब वह विदा हो रहा था तो और यात्री आ रहे थे। **सराय में अतिथि आते और चले जाते, लेकिन आतिथेय वही का वहीं था।** एक साधु यह कहकर पूछता था कि क्या यही घटना मनुष्य के साथ प्रतिक्षण नही घट रही है?

मैं भी यही पूछता हूँ और कहता हूँ कि जीवन मे अतिथि और आतिथेय को पहचान लेने से बडी और कोई बात नही है।

शरीर-मन एक सराय है। उसमें विचार के, वासनाओ के, विकारो के अतिथि आते हैं।

पर इन अतिथियो से पृथक् भी वहाँ कुछ है। आतिथेय भी है। यह आतिथेय कौन है?

यह 'कौन' कैसे जाना जाये?

बुद्ध ने कहा है, "रुक जाओ।"

और यह रुक जाना ही उसका जानना है।

बुद्ध का पूरा वचन है, '**यह पागल मन** रुकता नही, यदि यह **रुक जाये तो वही बोधि है, वही निर्वाण है।**

मन के रुकते ही आतिथेय प्रकट हो जाता है।

यह शुद्ध, नित्य, बुद्ध, चैतन्य है। जो न कभी जन्मा, न मरा। न जो बद्ध है, न मुक्त होता है।

जो केवल 'है' और जिसका होना परम आनन्द है।

११३ / सपनो के जीवन से जागो

'जीवन—जिसे हम जीवन समझते हैं, वह क्या है ?' रात्रि कोई पूछता था। मैंने उसे एक कहानी कही

एक विश्रामालय मे दो व्यक्ति आराम-कुर्सियो पर बैठे थे। एक युवा, एक वृद्ध। वृद्ध आँखे बन्द किये था, पर बीच-बीच मे मुस्करा उठता था। और कभी-कभी हाथ से और चेहरे से ऐसा इशारा करता था जैसे कुछ दूर हटा रहा हो। युवक से बिना पूछे न रहा गया। वृद्ध ने एक बार आँखे खोली तो उसने पूछ ही लिया, 'इस अत्यत कुरूप विश्रामगृह मे ऐसा क्या है, जो आपमे मुस्कराहट ला देता है ?' वृद्ध बोला, "मै अपने से कुछ कहानियाँ कह रहा हूँ, उनमे ही हँसी आ जाती है।" उस युवक ने पूछा, "और, बार-बार हाथ से हटाते क्या है ?" वृद्ध हँसने लगा और बोला, "उन कहानियो को, जिन्हे बहुत बार सुन चुका हूँ।" उस युवक ने कहा, "आप भी क्या कहानियो से मन समझा रहे है।" उत्तर मे वृद्ध ने कहा था, "बेटे, एक दिन समझोगे कि **पूरा ही जीवन कहानियो से अपने को समझा लेने का नाम है।**

निश्चित ही जीवन जैसा मिलता है, वह कहानी ही है और कहानियो से अपने को समझा लेने का ही नाम जीवन है।

जिसे हम जीवन समझते है, वह जीवन नही केवल एक सपना है।

नीद टूटने पर ज्ञात होता है कि हाथ में कुछ भी नही है—जो था वह था नही, बस केवल दीखता था।

पर, इस स्वप्न-जीवन से सत्य-जीवन मे जागा जा सकता है।

निद्रा छोडी जा सकती है।

जो सो रहा है, वह जाग भी सकता है।

उसके सो सकने की सभावना ही, उसके जागने की भी सभावना है।

११४ / मूर्छा का अन्धेरा

रात्रि आधी होने को है। आकाश आज बहुत दिनो बाद खुला है। सब नहाया-नहाया मालूम होता है और आधा चाँद पश्चिम क्षितिज में डूबता जा रहा है।

आज सध्या करागार में बोला हूँ। बहुत कैदी थे। उनसे बाते करते-करते वे कैसे सरल हो जाते हैं। उनकी आँखो मे कैसी पवित्रता झलकने लगती है—उसका स्मरण आ रहा है।

मैंने वहाँ कहा है प्रभु की दृष्टि मे कोई पापी नही है, प्रकाश की दृष्टि में जैसे अधेरा नही है।

इसलिए मैं तुमसे कुछ छोडने को नही कहता हूँ।

मैं मिट्टी छोडने को नही कहता हूँ, मैं तो हीरे पाने को कहता हूँ। **हीरे पा लो, मिट्टी तो अपने आप छूट जाती है।**

जो तुमसे छोडने को कहते हैं, वे नासमझ हैं।

जगत् मे केवल पाया जाता है। एक नयी सीढी पाते हैं, तो पिछली सीढी अपने आप छूट जाती है।

छोडना नकारात्मक है। उसमे पीडा है, दुःख है, दमन है।

पाना सत्तात्मक है। उसमें आनन्द है।

क्रिया में छोडना पहले दीखता है, पर वस्तुत पाना पहले है।

पहले पहली सीढी ही छूटती है, पर उसके पूर्व दूसरी सीढी पा ली गयी होती है। उसे पाकर ही, उसे पाया जानकर ही पहली सीढी छूटती है।

इससे प्रभु को पाओ तो जो पाप जैसा दीखता है, वह अनायास चला जाता है।

सच ही उस एक के पाने से सब पा लिया जाता है।

उस सत्य के आते ही सब स्वप्न अपने से विलीन हो जाते हैं।

स्वप्नो का छोडना नहीं है, जानना है।

जो स्वप्नो को छोडने मे लगता है, वह उन्हे मान लेता है।

हम स्वप्नो को मानते ही नही हैं।

इससे ही हम कह सके है, 'अहं ब्रह्मास्मि'—'मैं ही ब्रह्म हूँ।'

यह जिनका उद्घोष है, उनके लिए अधेरे की कोई सत्ता नही है।

मित्र, इसे जानो।

प्रकाश को अपने भीतर जगाओ और पुकारो।

प्रभु को अपने भीतर अनुभव करो।

अपने सत्य के प्रति जागो और फिर पाया जाता है कि अंधेरा तो कहीं है ही नहीं।

अंधेरा हमारी मूर्च्छा है और जागरण प्रकाश बन जाता है।

यह उन कैदियों से कहा था और फिर लगा कि यह तो सबसे ही कहना है, क्योंकि ऐसा कौन है, जो कि कैदी नहीं है।

११५ / 'मैं' = विवाद, प्रेम = संवाद

एक चर्चा मे आज उपस्थित था। उपस्थित था जरूर, पर मेरी उपस्थिति न के ही बराबर थी। भागीदार मैं नही था। केवल श्रोता था। जो सुना, वह तो साधारण था, पर जो देखा वह निश्चय ही असाधारण रहा।

प्रत्येक विचार पर वहाँ वाद-विवाद हो रहा था। सब सुना, पर दिखायी कुछ और ही दिया।

दिखा कि **विवाद विचारो पर नहीं, 'मैं' पर है।**

कोई कुछ भी सिद्ध नही करना चाहता है। **सब 'मैं' को, अपने-अपने 'मैं' को सिद्ध करना चाहते हैं।**

विवाद की मूल जड इस 'मैं' मे है। फिर प्रत्यक्ष मे केन्द्र कही दिखे—अप्रत्यक्ष में केन्द्र वही है।

जडे सदा ही अप्रत्यक्ष होती है। दिखायी वे नही देती।

दीखता है जो, वह मूल नही है।

फूल-पत्तो की भाँति जो दीखता है, वह गौण है। उस दीखनेवाले पर रुक जायें तो समाधान नही है, क्योकि समस्या ही वहाँ नही है।

समस्या जहाँ है, समाधान भी वही है।

विवाद कही नही पहुँचने, कारण जो जड है उसका ध्यान ही नही आता है।

यह भी दिखायी देता है कि जहाँ विवाद है, वहाँ कोई दूसरे से नही बोलता है। **प्रत्येक अपने से ही बातें करता है।**

प्रतीत भर होता है कि बाते हो रही है। पर जहाँ 'मैं' है, वही दीवाल है और दूसरे तक पहुँचना कठिन है।

'मैं' को साथ लिये संवाद असम्भव है।

संसार मे अधिक लोग अपने से ही बाते करने मे जीवन बिता देते हैं।

एक पागलखाने की घटना पढी थी। दो पागल विचार-विमर्श मे तल्लीन थे, पर उनका डाक्टर एक बात देखकर हैरान हुआ। वे बाते कर रहे थे जरूर और जब एक बोलता था, तो दूसरा चुप रहता था, पर दोनो की बातो मे कोई संबध, कोई संगति नही थी। उसने उनसे पूछा कि 'जब तुम्हे अपनी-अपनी ही कहना है तो एक-दूसरे के बोलते समय चुप क्यो रहते हो?' पागलो ने कहा, 'संवाद का नियम हमें मालूम है—जब एक बोलता है, तब दूसरे का चुप रहना नियमानुसार आवश्यक है।'

यह कहानी बहुत सत्य है और पागलों के ही नहीं, सबके संबंध में सत्य है। बात-चीत के नियम का ध्यान रखते हैं तो ठीक, अन्यथा प्रत्येक अपने से ही बोल रहा है।

'मैं' को छोड़े बिना कोई दूसरे से नहीं बोल सकता।

और 'मैं' केवल प्रेम में छूटता है।

इसलिए प्रेम में ही केवल संवाद होता है।

उसके अतिरिक्त सब विवाद है और विवाद विक्षिप्तता है।

क्योंकि उसमें सब अपने द्वारा और अपने से ही कहा जा रहा है।

मैं जब उस चर्चा से आने लगा तो किसी ने कहा, "आप कुछ बोले नहीं?"

मैंने कहा, "कोई भी नहीं बोला है।"

११६ / मैं कर्ता—एक प्रक्षेप

एक स्वप्न से जागा हूँ। जागते ही एक सत्य दीखा है। स्वप्न में मैं भागीदार भी था और द्रष्टा भी। स्वप्न में अब तक था, द्रष्टा भूल गया था, भागीदार ही रह गया था। अब जाकर देखता हूँ कि द्रष्टा ही था, भागीदार प्रक्षेप था।

स्वप्न जैसा है, संसार भी वैसा है।

द्रष्टा चैतन्य ही सत्य है, शेष सब कल्पित है।

जिसे हमने 'मैं' जाना है, वह वास्तविक नहीं है।

उसे भी जो जान रहा है, वास्तविक वही है।

यह सबका द्रष्टा तत्व सबसे मुक्त और सबसे अतीत है।

उसने न कभी कुछ किया है, न कभी कुछ हुआ है।

वह बस 'है'। (It is)

असत्य 'मैं', स्वप्न 'मैं' शान्त हो जाये तो जो 'है', वह प्रकट हो जाता है।

इस 'है' को हो जाने देना मोक्ष है, कैवल्य है।

११७ / 'मैं' का अभाव = संन्यास = प्रभु

एक संन्यासी ने मुझसे कहा है, "मैं प्रभु के लिए सब छोड आया हूँ और अब मेरे पास कुछ भी नही है।"

मै देखता हूँ कि सच ही उनके पास कुछ नही है, पर उनसे कहता हूँ कि वह जो छोडना था—और वही अकेला था, जो कि छोडा जा सकता था, वह अब भी उनके पास है!

वे अपने चारो ओर देखते हैं। सच ही उनके पास कुछ नही है—जो है, उनके भीतर है। वह उनकी आँखो मे है। वह उनके त्याग मे है। वह उनके संन्यास में है। वह 'मैं' है। उसे **छोड़ना ही अकेला छोडना है।** क्योकि शेष सब छीना जा सकता है और अतत मृत्यु सब छीन ही लेती है।

'मै' को कोई नही छीन सकता है, मृत्यु भी उसे नही छीन पाती है। उसे छीना नही जा सकता, उसे तो केवल छोडा ही जा सकता है।

उसका तो केवल त्याग ही हो सकता है।

और जो छीना नही जा सकता है, उसका त्याग ही केवल त्याग है।

इसलिए प्रभु को समर्पित करने योग्य मनुष्य के पास 'मै' के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।

शेष जो भी वह छोडे, वह केवल छोडने के भ्रम मे है, क्योकि वह उसका था ही नही।

और, इस सब छोडने से उल्टे उसका 'मै' और प्रगाढ और घनीभूत हो जाता है।

'मै' केंद्र से यदि कोई अपना समस्त जीवन भी प्रभु को दे दे, तो भी वह देना नही है।

'मैं' को दिये बिना और कुछ भी देना, देना नहीं है।

'मै' एकमात्र परिग्रह है। 'मै' एकमात्र ससार है। उसे जो छोडता है, वही अपरिग्रही है, वही सन्यासी है।

'मै' ससार है। 'मैं' का अभाव सन्यास है।

'मै' को दे देना वास्तविक धार्मिक क्रान्ति और परिवर्तन है।

क्योकि, उसके रिक्त स्थान मे ही वह आता है, जो कि मेरा 'मैं' नही, वरन् सर्व का 'मै' है।

सिमोन वेल का एक कथन मुझे बहुत प्रिय है जिसमे उसने कहा है कि प्रभु के अतिरिक्त किसी को भी 'मै' कहने का कोई अधिकार नही है।

सच ही 'मैं' कहने का अधिकार केवल उसे ही है, जो कि समस्त सत्ता का केन्द्र है ।

पर उसे 'मैं' कहने का कोई कारण नही हो सकता, क्योंकि उसके लिए सब 'मै' ही है ।

जिसे अधिकार है, उसे कहने का कारण नही है, और जिसे कहने का कारण है, उसे कोई अधिकार नही है ।

पर मनुष्य अपने अनधिकार को खोकर, अधिकार को पा सकता है ।

वह 'मैं' होना छोडकर 'मैं' हो सकता है।

वह अपने केन्द्र के आभास को छोडकर, सत्य-केन्द्र को पा सकता है ।

वह जिस क्षण अपने केद्र को विकेन्द्रित कर देता है, उसी क्षण केन्द्र को उपलब्ध हो जाता है ।

मनुष्य का 'मै' सत्य नहीं है। वह सघात है। उसकी कोई सत्ता नही है, **वह सग्रह है ।**

इस सग्रह से सत्य का जो भ्रम पैदा होता है, वही अज्ञान है ।

पर जो इस सग्रह मे झाँकता है, देखता है और सत्य को खोजता है, उसके समक्ष आभास टूट जाता है और 'मै' की माला के फूल बिखर जाते है ।

और तब वह सूत्र उपलब्ध होता है जो कि सत्य है और जिस पर कि 'मै' के फूल टँगे थे और जिसे कि उन फूलो ने ढाँक रखा था ।

फूलो के हटने पर—उनके आच्छादन के टूटने पर पाया जाता है कि जो उनका आधार था वह मेरा ही नही है, वह मुझमे और सबमे भी है। वह समस्त सत्ता मे पिरोया हुआ है ।

जो 'मै' की इस मृत्यु से नही गुजरता है, वह परमात्मा के जीवन से वंचित रह जाता है ।

'मै' की मृत्यु, परमात्मा से, सत्य से, सत्ता से, हमारे भेद और अन्तर की मृत्यु है ।

उसके गिरते ही वह फासला गिर जाता है, जो कि हमे स्वय हमसे ही तोडे हुए था ।

और वह व्यक्ति धन्यभागी है जो शरीर की मृत्यु के पूर्व इस मृत्यु को उपलब्ध होता है ।

११८ / चित्त के सारे प्रलोभनों से मुक्ति

सत्य के लिए जिसकी अभीप्सा है, वह जाने कि उसे सत्य की कोई कल्पना, कोई धारणा स्वीकार नही करनी है। उस स्वीकार पर ही साधना का आत्मघात हो जाता है।

सत्य को पाने के लिए चित्त के द्वारा दिये गये सारे प्रलोभनों को छोड़ने का साहस चाहिए।

चित्त द्वारा प्रदत्त कोई भी विकल्प स्वीकार नही करता है।

तभी वह निर्विकल्प अवस्था आती है, जो स्वय के समक्ष स्वय के प्रत्यक्ष को देती है।

वह अतत प्रत्यक्ष—शुद्ध ज्ञान की सद्घडी आ सके, उसके पूर्व बहुत-कुछ आता है, जो कि सत्य नही है।

और उसमें जो उलझता है वह और कुछ भी जान ले, स्वय को नही जानता है।

स्वय को कभी भी ज्ञेय की भाँति नही जाना जाता है।

इसलिए **जब तक कुछ भी ज्ञेय शेष है, तब तक जानना कि साक्षात् 'पर' का है, 'स्व', का नहीं।**

ज्ञेय जब अशेष है, तब जो शेष रह जाता है, वही ज्ञान है, वही स्व है, वही सत्य ह।

रिन्झाई ने कहा है, " समाधि के मार्ग मे यदि स्वय भगवान् भी मिले तो उन्हे राह से दूर कर देना।"

मैं भी यही कहता हूँ।

समाधि की राह जब पूर्ण निर्जन है, और ज्ञान की धारा मे जब कोई ज्ञेय नही है और दर्शन को देखने को जब कुछ शेष नही है, तभी वह मिलता और जाना जाता है, जो कि सत्य है।

एक सद्गुरु ने भी एक दिन यही कहा था। उसके एक शिष्य ने सुना। उसने अपनी कुटिया पर लौट सारी मूर्तिया तोड डाली और सारे ग्रन्थ जला डाले। और जाकर अपने गुरू से कहा कि मै वह सब नष्ट कर आया हूँ जो कि सत्य के आगमन में बाधक है। उसका गुरू उसकी बात सुन बहुत हँसने लगा था और उसने कहा था, **"पागल, उन ग्रथों को जला, जो तेरे भीतर हैं, और उन मूर्तियों को तोड, जो तेरे चित्त की अतिथि बन गयी है।"**

ऐसा ही आज यहाँ हुआ है। एक युवक मेरी बातें सुन अपने पूजागृह को उजाड़ मूर्तियों को कुएँ में फेंक आये हैं। उनसे मैंने कहा है। 'मूर्तियों को नहीं, उस मन को फेंको जो कि मूर्तियों का निर्माता है। और पूजागृहों को उजाड़ने से क्या होगा, जब तक कि यह सर्जक मन जीवित है, जो कि प्रतिक्षण नये पूजागृह बना लेता है ?'

११९ / आंतरिक सीमाओं और बंधनों से मुक्ति

सत्य के मार्ग पर वह व्यक्ति है, जिसने सारे मतो को तिलाजलि दे दी है।

जिसका कोई पक्ष है और कोई मत है, सत्य उसका नही हो सकता।

सब पक्ष मनुष्य-मन से निर्मित है।

सत्य का कोई पक्ष नहीं है और इसलिए जो निष्पक्ष होता है, पक्ष-शून्य होता है, वह सत्य का हो जाता है और सत्य उसका हो जाता है।

इसलिए, किसी पक्ष को न चाहो, किसी सम्प्रदाय को न चाहो, किसी 'दर्शन' को न चाहो।

चित्त को उस स्थिति मे ले चलो, जहाँ सब पक्ष अनुपस्थित है।

उसी बिंदु पर विचार मिटता और दर्शन प्रारभ होता है।

आँखे जब पक्ष मुक्त होती है, तो वे 'जो है' उसे देखने में समर्थ हो पाती है।

वास्तविक धार्मिक व्यक्ति वही है, जिसने सब धर्म छोड दिये है, जिसका अपना कोई धर्म नही है।

और इस भाँति धर्मों को छोडकर वह धर्म का हो जाता है।

मुझसे लोग पूछते है कि मै किस धर्म का हूँ? मै कहता हूँ कि मै धर्म का तो हूँ पर 'किसी' धर्म का नही हूँ।

धर्म भी अनेक हो सकते है, यह मेरी अनुभूति मे नही आता है।

विचार भेद पैदा करते है, पर विचार से तो कोई धर्म मे नही पहुँचता है।

धर्म मे पहुँचना तो निर्विचार से होता है और निर्विचार मे तो कोई भेद नही है।

समाधि एक है और समाधि मे जो सत्य ज्ञात होता है, वह भी एक ही है।

सत्य एक है, पर मत अनेक है।

मतो की अनेकता मे से जो एक को चुनता है, वह सत्य के आने के लिए अपने ही हाथो द्वार बद कर देता है।

मतो को मुक्त करो और **मतो से मुक्त हो जाओ और सत्य के लिए द्वार दो, यही मेरी शिक्षा है।**

समुद्र के नमक का स्वाद पूरब और पश्चिम में एक है—और जल के वाष्पीभूत होने के नियम भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न नही है—और जन्म और मृत्यु की शृखला मेरे लिए अलग और आपके लिए अलग नही है।

फिर अतस्सत्ता कैसे अनेक नियमो और सत्यो से परिचालित हो सकती है?

आत्मा मे कोई भूगोल नही है और न दिशाओ के कोई भेद है और न कोई सीमाएँ है।

भेद मात्र मन के हैं।

और जो मन के भेदों में विभाजित है, वह आत्मा के अभेद को उपलब्ध नही हो सकता है।

मैं सुबह घूमकर लौट रहा था तो एक पक्षी को पिंजडे में बद देखा। उसे देख मुझे पक्षों में बंद लोगो की याद आयी।

पक्ष भी पिंजडे है। बहुत सूक्ष्म, अपने ही हाथों से निर्मित।

उन्हें कोई और नही, हम स्वय ही बना लेते हैं। वे अपने ही हाथ से बनाये गये कारागृह में।

हम स्वय उन्हे बनाते है और फिर उनमे बद होकर सत्य के मुक्त आकाश में उडने की सारी क्षमता खो देते हैं।

और, अभी मै देख रहा हूँ आकाश मे उडती एक चील को। उसकी उडान में कितनी स्वतत्रता है, कितनी मुक्ति है। एक पिंजडे मे बद पक्षी है और एक मुक्त आकाश में उडान लेता—और दोनो क्या हमारे चित्त की दो स्थितियो के प्रतीक नही है?

आकाश में उडता हुआ पक्षी पीछे न कोई पदचिह्न छोडता है, और न उडान का कोई मार्ग ही उसके पीछे बनता है।

सत्य का भी ऐसा ही आकाश है। जो मुक्त होते है, वे उसमे उडान लेते है, पर उनके पीछे कोई पदचिह्न नहीं बनते है और न कोई मार्ग ही निर्मित होते हैं।

इसलिए, स्मरण रहे कि सत्य के लिए बँधे-बँधाये मार्गों की तलाश व्यर्थ है। ऐसा कोई मार्ग नही है।

और यह शुभ ही है, क्योकि बँधे मार्ग किसी बधन तक ही पहुँचा सकते थे, वे मुक्त कैसे कर सकते है।

सत्य के लिए प्रत्येक को अपना मार्ग स्वय ही बनाना होता है।

और, यह कितना सुदर है।

जीवन पटरियो पर चलती हुई गाडियो की तरह नही है, सुदर पर्वतो से सागर की ओर दौडती हुई सरिताओ की भाँति है।

१२० / कोरे कागज की तरह हो रहें

कोई धर्म के संबंध में पूछ रहा था। उससे मैंने कहा है

"धर्म का संबंध इससे नहीं है कि आप उसमें विश्वास करते हैं या नहीं करते। वह आपका विश्वास नहीं, आपका श्वाँस-प्रश्वाँस हो तो ही सार्थक है। वह तो कुछ है, जो आप करते हैं या नहीं करते हैं—जो आप होते हैं, या नहीं होते हैं। धर्म कर्म है, वक्तव्य नहीं।"

और धर्म कर्म तभी होता है, जब वह आत्मा बन गया हो। जो आप करते हैं, वह आप पहले हो गये होते हैं।

सुवास देने के पहले फूल बन जाना आवश्यक है। फूलों की खेती की भाँति आत्मा की खेती भी करनी होती है।

और, आत्मा में फूलों को जगाने के लिए पर्वतों पर जाना आवश्यक नहीं है।

वे तो जहाँ आप हैं, वहीं उगाये जा सकते हैं।

क्योंकि जहाँ आप हैं, वहाँ रहते हुए भी आप पर्वतों पर हो सकते हैं।

स्वयं के आंतरिक एकांत में ही पर्वत है और अरण्य है।

यह सत्य है कि पूर्ण एकांत में ही सत्य और सौंदर्य के दर्शन होते हैं।

और जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, वह उन्हें मिलता है, जो अकेले होने का साहस रखते हैं।

जीवन के निगूढ़ रहस्य एकान्त में ही अपने द्वार खोलते हैं और आत्मा प्रकाश को और प्रेम को उपलब्ध होती है।

और, **जब सब शान्त और एकांत होता है, तभी वे बीज अंकुर बनते हैं,** जो हमारे समस्त आनंद को अपने में छिपाये हमारे व्यक्तित्व की भूमि में दबे पड़े हैं।

वह वृद्धि, जो भीतर से बाहर की ओर होती है, एकांत में ही होती है।

और, स्मरण रहे कि सत्य-वृद्धि भीतर से बाहर की ओर होती है।

झूठे फूल ऊपर से थोपे जा सकते हैं, पर असली फूल तो भीतर से ही आते हैं।

इस आंतरिक वृद्धि के लिए पर्वत और अरण्य में जाना आवश्यक नहीं है, पर पर्वत और अरण्य में होना अवश्य आवश्यक है।

वहाँ होने का मार्ग प्रत्येक के ही भीतर है।

दिन और रात्रि की **व्यस्त दौड़ में थोड़े क्षण निकालें** और अपने स्थान और समय को, और उससे उत्पन्न अपने तथाकथित व्यक्तित्व और 'मैं' को भूल जायें।

चित्त को उस सबसे खाली कर लें जो उसे सतत भरे रहता है।

जो भी चित्त में आवे, उसे जानें कि यह मैं नहीं हूँ, और उसे बाहर फेंक दें।

सब छोड़ दें—प्रत्येक चीज—अपना नाम, अपना देश, अपना परिवार—सब स्मृति से मिट जाने दें और कोरे कागज की तरह हो रहें।

यही मार्ग आतरिक एकात और निर्जन का मार्ग है।

इससे ही अतत आतरिक सन्यास भी फलित होता है।

चित्त जब सब पकड छोड देता है—सब नाम रूप के बधन को तोड देता है, तब वही आपमें शेष रह जाता है, जो आपका वास्तविक होना है। उस क्षण आप अकेले हो और एकात में हो। उस समय जो जाना जाता है, वह इस लोक और जगत् का नही है। उस ज्ञान मे ही धर्म के फूल लगते है और जीवन परमात्मा की सुवास से भरता है।

इन थोडे से क्षणा मे जो जाना जाता है, जो शाति, जो सौंदर्य और जो सत्य, वह आपको एक ही साथ दो तलो पर जीने की शक्ति दे देता है। फिर, आप जगत् में होते हो, लेकिन जगत् के नहीं होते हो। फिर, कुछ बाँधता नहीं है और जीवन मुक्त हो जाता है। जल मे होकर भी फिर जल छूता नही है। इस अनुभूति मे ही जीवन की सिद्धि है और धर्म की उपलब्धि है।

भगवान् श्री रजनीश हिन्दी साहित्य

१	महावीर मेरी दृष्टि मे	३० ००
२	महावीर-वाणी	३० ००
३	जिन खोजा तिन पाइयां	२० ००
४	ईशावास्योपनिषद्	१२ ००
५	प्रेम और द्वार प्रभु का	८ ००
६	समुन्द समाना बुन्द मे	७ ००
७	घाट भुलाना बाट बिनु	७ ००
८	सूली ऊपर सेज पिया की	७ ००
९	सत्य की पहली किरण	६ ००
१०	सभावनाओ की आहट	६ ००
११	अन्तर्वीणा	६ ००
१२	ढाई आखर प्रेम का	६ ००
१३	मै कहता आँखन देखी	६ ००
१४	सभोग से समाधि की ओर	६ ००
१५	मिट्टी के दिये	५ ००
१६	साधना-पथ	५ ००
१७	अन्तर्यात्रा	५ ००
१८	अस्वीकृति मे उठा हाथ (भारत, गाँधी और मेरी चिता)	५ ००
१९	प्रेम के फूल	५ ००
२०	गहरे पानी पैठ	५ ००
२१	क्राति-बीज	५ ००
२२	पथ के प्रदीप	४ ००
*२३	प्रभु की पगडडिया	४ ००
२४	समाजवाद से सावधान	४ ००
२५	ज्यो की त्यो धरि दिन्ही चदरिया	५ ००
२६	मैं कौन हूँ ?	३ ००
२७	शून्य की नाव	३ ००
*२८	अज्ञान की ओर	२ ००
*२९	नये सकेत	२ ००
३०	सिंहनाद नया सशोधित सस्करण नया नाम . "पथ की खोज"	१ ५०
३१	प्रेम और विवाह	१ ५०
३२	प्रगतिशील कौन ?	१ ५०
३३	विद्रोह क्या है ?	१ ५०
३४	ज्योतिष अद्वैत का विज्ञान	१ ५०
३५	ज्योतिष अर्थात् अध्यात्म	१ ५०
*३६	जन-सख्या विस्फोट समस्या और समाधान (परिवार नियोजन का परिवर्धित सस्करण)	१ ५०
*३७	सत्य के अज्ञान सागर का आमत्रण	१ ५०
*३८	कुछ ज्योतिर्मय क्षण	१ ००
*३९	सूर्य की ओर उडान	१.००
*४०	मन के पार	१ ००
४१	युवक और यौन	१ ००
*४२	नये मनुष्य के जन्म की दिशा	० ७५
*४३	प्रेम के पख	० ७५
४४	अमृत-कण	१ ००
४५	अहिंसा–दर्शन	१ ००
*४६	पूर्व का धर्म पश्चिम का विज्ञान	० ५०
४७	सारे फासले मिट गये	१ २५

४८	बिखरे फूल	१ ००
४९	संस्कृति के निर्माण में सहयोग (जीवन जागृति केन्द्र क्या, क्यो, कैसे ?)	० ३०
५०	अवधिगत सन्यास	० ३०
५१	क्रांति की वैज्ञानिक प्रक्रिया	१.५०
५२	धर्म और राजनीति	१ ००
५३	ध्यान एक वैज्ञानिक दृष्टि	१ ००
५४	निर्वाण उपनिषद्	१५ ००
५५	ताओ उपनिषद्	४० ००
५६	मेडिसिन और मेडिटेशन	५ १२

प्रेस के लिए बड़ी पुस्तकें

५७	मैं मृत्यु सिखाता हूँ	
५८	कृष्ण मेरी दृष्टि में	
५९	गीता-दर्शन (४ खंडो में प्रथम दस अध्याय)	
६०	मुल्ला नसरुद्दीन (प्रकाशित हुआ)	५.००
६१	शून्य के पार	
६२	पाथेय (६ अंग्रेजी भेट वार्ताओ एव २०० अंग्रेजी पत्रो का अनुवाद)	
६३	ध्यान नये आयाम (सक्रिय ध्यान और कीर्तन ध्यान)	

सूचना–* चिन्ह अंकित पुस्तके पुनर्मुद्रण के लिए प्रेस मे लंबित हैं ।

गुजराती में अनुवादित साहित्य

१	अन्तर्यात्रा	५ ००
२	संभोगथी समाधि तरफ	४ ००
३	साधना-पथ	३ ००
४	पन्थना प्रदीप	३ ००
५	माटीना दिवा	३ ५०
६	हूँ कोण छू ?	३ ००
७	क्रान्ति-बीज	२ ५०
८	अज्ञात प्रति	२ ००
९	नवो संकेत	१ ७५
१०	सत्यना अज्ञात सागरनु आमन्त्रण	१ ५०
११	मननी पार	१ ५०
१२	सूर्य तरफनु उड्डयन	१ ००
१३	जीवन अने मृत्यु	१ ००
१४	केटलीक ज्योतिर्मय क्षण	० ७५
१५	नवाँ मनुष्यना जन्मनी दिशा	० ७५
१६	प्रेमनी पाखे	० ७५
१७	अमृत-कण	० ५०
१८	अहिन्सा-दर्शन	० ५०
१९	तरुण-विद्रोह	०.५०
२०	भ्रान्त समाजवाद	०.३०
२१	अतीतनी आलोचना, भावीनु चिन्तन	० ३५

२२	अभिनव सन्यास	१ ००
२३	ध्यान	०.७५
२४	प्रेम	० ७५
२५	परिवार	०.७५
२६	सकल्प	० ७५
२७	परिवार नियोजन	० ७५
२८	तीर्थ	६ ५०
२९	सहज योग	१ ००
३०	अकाम	० ७५
३१	सन्यास अने ससार	० ८०
३२	प्रेमना फूलो	५ ००
३३	धर्म–विचार नहि उपचार	० ६०
३४	क्रान्तिनी वैज्ञानिक प्रक्रिया	० ६०
३५	उठ जाग जुवान	० ५०
३६	प्रेम, परमात्मा अने परिवार	० ७५
३७	परमात्मा क्या छे ?	० ७५
३८	गाँधीवाद वैज्ञानिक दृष्टिअे	० ५०
३९	गाँधीजीनी अहिन्सा	० ५०
४०	धर्म अने राजकारण	० ४०
४१	समाजवादथी सावधान	० ७५
४२	सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्	० ६०
४३	मन्त, ईश्वर अने अनुभूति	० ७५
४४	बन्धन अने मुक्ति	० ७५
४५	ताओ	० ६०
४६	पूर्णावतार कृष्ण	० ६०
४७	गाँधीवादी क्या छे ?	०.५०
४८	मृत्यु पर विजय	१ ५०
४९	अन्तर्द्रष्टा आचार्य रजनीश जी (जीवन चरित्र)	० ७५
५०	अन्तर्द्रष्टा आचार्य रजनीश जी (जीवन प्रसगो)	० ८०
५१	अन्तर्द्रष्टा आचार्य रजनीश जीनी ज्ञानवाणी	१ ५०
५२	जीवनना मदिरमा द्वार छे मृत्युनु	० ६०
५३	दिव्य लोकनी चावी (महावीर-वाणी-१)	१.००
५४	भाव जगतना रहस्य (महावीर-वाणी-२)	१.००
५५	शरण स्वीकारूँ छू हुँ तमारू (महावीर-वाणी-३)	१ ००
५६	ज्योतिष अद्वैतनु विज्ञान	२ ००
५७	स्वानुभवनी कसौटीअे	१ ००
५८	सत्यनी शोध	४ २५
५९	एक तरल धर्मकी नव-अवधारणा	१ ००
६०	श्री कृष्ण रहस्य	२ ००
६१	कुण्डलिणी जागरण	२ ००

मराठी में अनुवादित साहित्य

१	पथ-प्रदीप	८ ००
२	सभोगातून समाधिकडे	४ ००
३	प्रेम-पुष्प	३ ४०
४	साधना-पथ	३ ००
५	क्राति-बीज	२ ५०
६	सिंहनाद	२ ००
७	अभिनव सक्रिय ध्यान	१ ००
८	प्रेमाचे पख	० ७५
९	अहिंसा-दर्शन	०.५०
१०	अमृत-कण	० ५०
११	समाजवाद पासून सावध रहा	०.५०
१२	पाण्यात बुडी घे खोल	२ ००
१३	गीता दर्शन (अध्याय-२, भाग-१)	

गुरुमुखी (पंजाबी साहित्य)

१ साधना-पथ	३ ००
२ अहिंसादर्शन	०.४०
*३ जीवन जो राज (सिंधी भाषा में)	० ५०

ग्रीक भाषा में साहित्य

१ एरन एपो टु एपेरपेरन (बियोन्ड एण्ड बियोन्ड)

२ योग सान एना अपथ्रोमितो सिमवान (योग एज स्पॉन्टेनियस हेपनिंग)

पत्रिकाओं के वार्षिक शुल्क

१ ज्योति-शिखा (हिन्दी त्रैमासिक)	८००
२ युक्रान्द (हिन्दी मासिक)	१२ ००
४ योग-दीप (मराठी पाक्षिग)	९ ००
५ सन्यास (अंग्रेजी द्वैमासिक)	१८ ००

पुस्तक प्राप्ति स्थान

जीवन जागृति केन्द्र

● ३१, इजरायल मोहल्ला,
भगवान भुवन, मस्जिद बन्दर रोड,
बम्बई-९

●

फोन ३२७६१८
३२१०८५

● ए–१, वुडडेण्डस्,
पेडर रोड, (कैम्प्स कॉर्नर के पास)
बम्बई–२६

●

फोन ३८११५९

AVAILALE ENGLISH BOOKS OF

BHAGWAN SHREE RAJNEESH

I. Translated from the Original Hindi version :

(Postage extra)

		Pages	Price in India
1.	Path to Self-Realization		5 00
2.	Seeds of Revolution		8·00
3	Philosophy of Non-Violence		0 80
4	Who Am I ?		3 00
5	Earthen Lamps		4 50
6	Wings of Love and Random Thoughts		3 50
7	Towards the Unknown		1·50
8	From Sex to Superconsciousness'		6·00
9	The Mysteries of Life and Death		4 00
10	Lead Kindly Light		1·50
*11	What is Rebellion !		

II. Original English Books :

		Pages	Price in India
12	Meditation A New Dimension		2 00
13	Beyond and Beyond		2 00
14	Flight of the Alone to the Alone		2 50
15	LSD A Shortcut to False Samadhi		2 00
16	Yoga A Spontaneous Happening		2 00
17	The Vital Balance		1 50
18	The Gateless Gate		2 00
19	The Silent Music		2 00
20	Turning In		2 00
21	The Eternal Message		2 00
22	What is Meditation ?		3 00
*23	The Dimensionless Dimension		2 00

24.	Wisdom of Folly	213 (New Mulla jokes)	6.00
*25	Two Hundred Two		
*26.	Meet Mulla Nasrudin		
*27.	Thus Spake Mulla Nasrudin		
*29.	Beyond Laughter		
30	One Hundred One		
31.	The Inward Revolution		20 00
32	I Am the Gate		10 00
33	Seriousness		2 00
34	Secrets of Discipleship		3·00
*35.	Dynamics of Meditation		15 00
*36	The Ultimate Alchemy (2 vols)		

III. Critical Studies on Bhagwan Shree Rajneesh :

37	Acharya Rajneesh a Glimpse	1 25
38	Acharya Rajneesh The Mystic of Feeling	20 00
39	Lifting the Veil	10 00

Note . Star (*) marked books are in press.

For enquiries and books please contact

JEEVAN JAGRITI KENDRA

(Life Awakening Centre)

Israil Mohalla
31, Bhagwan Bhuvan
Masjid Bunder Road
BOMBAY-9
Phones **327618,/321085**

A-1, Woodlands
Peddar Road
BOMBAY-26
Tel. 381159